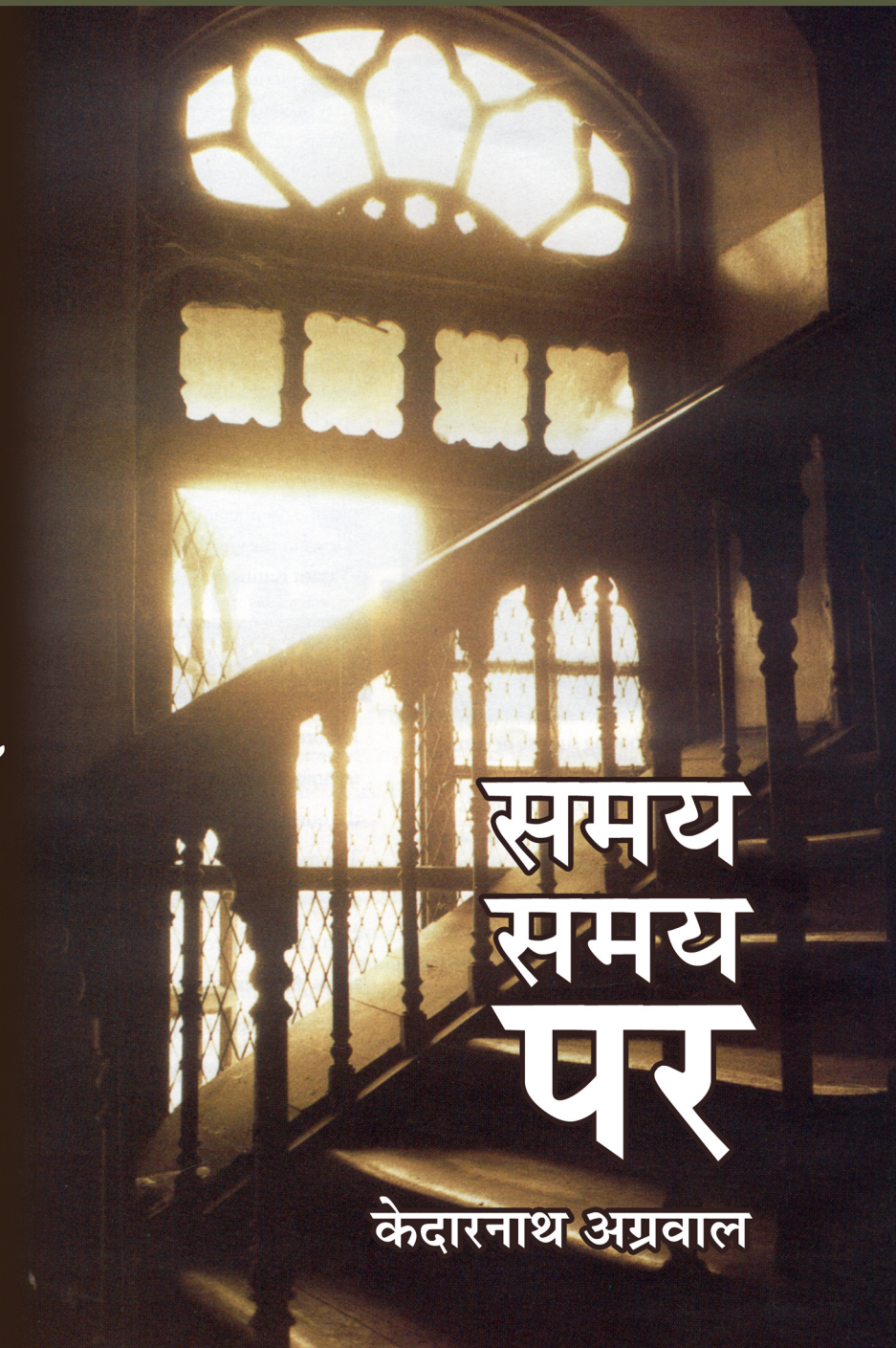
समय
समय
पर
केदारनाथ अग्रवाल

समय-समय पर

केदारनाथ अग्रवाल

साहित्य भंडार
इलाहाबाद 211 003

I S B N : 978-81-7779-219-5

❁

प्रकाशक

साहित्य भंडार

50, चाहचन्द, इलाहाबाद-3

दूरभाष : 2400787, 2402072

❁

लेखक

केदारनाथ अग्रवाल

❁

स्वत्वाधिकारिणी

ज्योति अग्रवाल

❁

संस्करण

साहित्य भंडार का

प्रथम संस्करण : 2010

❁

आवरण एवं पृष्ठ संयोजन

आर० एस० अग्रवाल

❁

अक्षर-संयोजन

प्रयागराज कम्प्यूटर्स

56/13, मोतीलाल नेहरू रोड,

इलाहाबाद-2

❁

मुद्रक

सुलेख मुद्रणालय

148, विवेकानन्द मार्ग,

इलाहाबाद-3

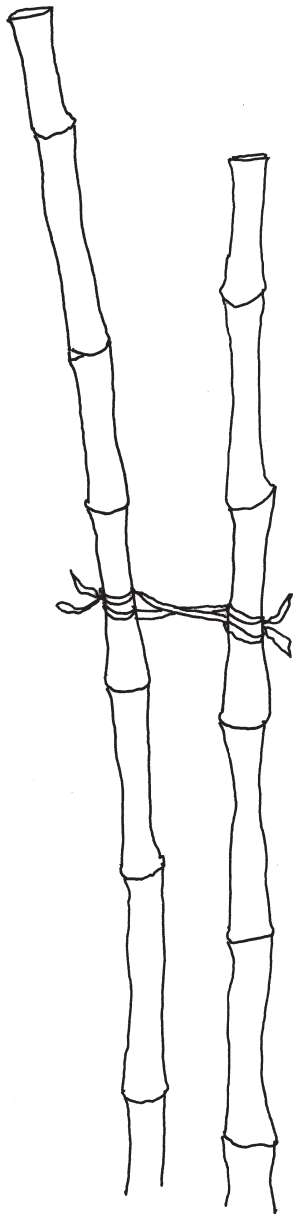

मूल्य : 250.00 रुपये मात्र

समय-समय पर

प्रकाशकीय

इस संकलन का प्रकाशन 'साहित्य भंडार' के प्रथम संस्करण के रूप में सम्पन्न हो रहा है। केदारजी के उपन्यास 'पतिया' को छोड़कर, उनके शेष समस्त लेखन को प्रकाशित करने का गौरव भी 'साहित्य भंडार' को प्राप्त है। केदारनाथ अग्रवाल रचनावली (सं० डॉ० अशोक त्रिपाठी) का प्रकाशन भी 'साहित्य भंडार' कर रहा है।

एक तरह से केदार-साहित्य का प्रकाशक होने का जो गौरव 'साहित्य-भंडार' को मिल रहा है उसका श्रेय केदार-साहित्य के संकलन-संपादक डॉ० अशोक त्रिपाठी को जाता है उसके लिए 'साहित्य-भंडार' उनका आभारी है। यह गौरव हमें कभी नहीं मिलता यदि केदार जी के सुपुत्र श्री अशोक कुमार अग्रवाल और पुत्रवधू श्रीमती ज्योति अग्रवाल ने सम्पूर्ण केदार-साहित्य के प्रकाशन का स्वत्वाधिकार हमें नहीं दिया होता। हम उनके कृतज्ञ हैं।

भाई आर. एस. अग्रवाल ने इस संकलन को कलात्मक सज्जा प्रदान किया इसके लिए उनका आभार।

सतीशचन्द्र अग्रवाल
विभोर अग्रवाल
2010

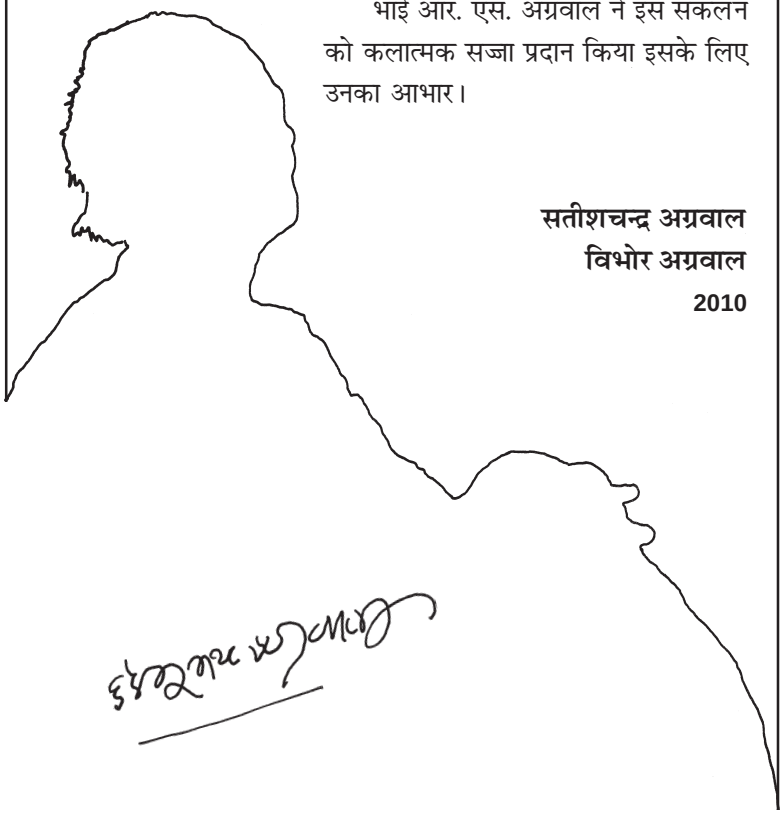

भूमिका

बरसों बाद, अब, एक जगह छप कर, मेरे ये लेख, पुनर्जन्म पा रहे हैं। उसका श्रेय मेरे प्रकाशक को है। इस किताब के नामकरण का श्रेय 'अजित पुष्कल' को है।

इनमें से कई 'हंस' और 'पारिजात' में छपे थे। कई अप्रकाशित रह गये थे।

जब छपे थे, तब तहलका मचा था। तहलके के वे दिन आज भी याद हैं।

तहलका इसलिए मचा था कि कविता के बारे में मेरा दृष्टिकोण दूसरे विद्वानों के दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न था और जो-जो बात मैंने तब कही थी, उसे गले के नीचे उतारना आसान न था। इसलिए उस तहलके के बाद इन्हें उपेक्षित कर दिया गया। हाँ, प्रभाकर माचवे ने अवश्य मेरे काव्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण को लेकर अपनी लिखित प्रतिक्रिया व्यक्त की थी। शायद उनका लेख उनकी किसी पुस्तक में छपा भी है। ऐसा मैंने सुना है-देखा नहीं।

इस किताब का हर लेख दूसरे लेख से अलग है और अलग लिखा गया है। फिर भी हर लेख दूसरे लेख से, कहीं -न-कहीं, मेरे दृष्टिकोण के माध्यम से जुड़ा है। और यह सब मिल कर मुझे, मेरे युग को, और मेरे युग की वस्तुवत्ता और चेतना को व्यक्त करते हैं। इसी में इनके प्रकाशन की सार्थकता और सिद्धि है। मैंने अपना दृष्टिकोण सिद्धान्तों को घोंटकर नहीं बनाया था। न मैं प्रोफेसर था-नू शोध-कर्त्ता। इसलिए मैंने स्वयं सोचा और समझा और अपने विचारों को व्यक्त किया। इस सोचने-समझने में मुझे कविता के ऐतिहासिक क्रमिक विकास के कथ्य और शिल्प ने मदद दी। मैंने पुराने और नये कवियों की रचनाएँ पढ़ीं, उनके कथ्य और शिल्प को उनके निर्माण के युग में रखकर परखा। उनके कथ्य और शिल्प को उनके निर्माण के युग से प्रभावित पाया। युग बदला, तो कथ्य और शिल्प दोनों बदले। यह परिवर्तन होता चला आया, इस तथ्य को मैंने बड़ी मजबूती से पकड़ा। इस परिवर्तन की उपेक्षा मैं न कर सका। मैंने इसे सहर्ष विवेक से ग्रहण किया। मेरे विवेक ने जो मुझसे कहा, मैंने उसे कसौटी पर कसा जान कर अपने और दूसरों के हित में, और हिन्दी-कविता के विकास के हित में अपनाया।

मैंने ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का दर्शन पढ़ा था। इस दर्शन के बल पर मैंने दुनिया और दुनिया के तमाम तामझाम को सही परिप्रेक्ष्य में समझा। इस समझ से एक दृष्टि मिली, जो मुझे तबतक कहीं से, किसी भी दर्शन से न मिली थी। न कोई पंडित या महापंडित मुझे इस सब प्रपंच के बारे में संतुष्ट कर सका था। पूछ-पूछकर

हार गया था। दिन-प्रतिदिन जग और जीवन से विमुख होता था और दिमाग से विचलित रहता था। 'होने-न-होने' का 'जीने-न-जीने' का रहस्य मथे डालता था। लेकिन पल्ले कुछ नहीं पड़ता था। फिर भी मैं, इस स्थिति में भी, अपने को संसार की वस्तुवत्ता को निस्सार समझने वाले सिद्धान्त (या दर्शन) से, सम्बद्ध न कर सका। कुछ ऐसा रहा मेरा आत्मज्ञान कि मैं, लड़कपन से, इस दृश्यमान जगत् को-इस आदमी को-इस आदमी के तमाम व्यापार और निर्माण को-यहाँ तक कि इनके नाश और मरण को भी-सच समझता रहा और इन्हें झूठ या माया या विचार मात्र नहीं समझता रहा। ह्यूम (Hume) के लिए वस्तुवत्ता कुछ न थी-मात्र विचार थी। मेरे लिए वस्तुवत्ता यथार्थ थी-सत्य थी-और त्याज्य नहीं थी। तभी मेरी अपनी प्रकृति भौतिकवाद के दर्शन को स्वीकार कर सकी और मैं जग और जीवन को ग्रहणीय सत्य मानने लगा।

ऐसे स्वभाव का मैं, भौतिकवादी दर्शन से ताल-मेल बैठाकर, कविता को वस्तुवत्ता के सन्दर्भ में पढ़ने-समझने लगा और पढ़ते-पढ़ते, समझते-समझते इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि कविता भी वस्तुवत्ता की आत्मपरक अभिव्यक्ति है और यह अभिव्यक्ति भी देश-काल से बँधी है और ऐसे बँधकर ही न 'अहं' की अभिव्यक्ति है-न वस्तुवत्ता की ठोस अभिव्यक्ति है, वरन् दोनों की वास्तविक अभिव्यक्ति है, जो आदमी को आदमी से जोड़ती है, एक युग को दूसरे युग से जोड़ती है; वर्तमान को भूत और भविष्य से मिलाती है; और आदमी की सभ्यता और संस्कृति का विकसित प्रारूप प्रस्तुत करती है। मेरा यह निष्कर्ष मेरा सहायक सिद्ध हुआ और मैं काव्य के समस्त इतिहास में आदमी को आदमी की तरह देखने लगा। मैंने जाना : किस युग के कैसे अपने परिवेश से वह प्रभावित हुआ और वह प्रभाव कैसे और किस रूप में उसके उस युग के कवियों ने, ग्रहण किया और वह ग्रहीत रूप कब और कहाँ और कैसे किस परिवेश में पड़कर, बदला और बदलकर जन-मानस में कैसे प्रविष्ट हुआ और, क्यों और किसे, किस हद तक, प्रेरित कर सका। मैंने अपने लेखों की इमारतें इसी बुनियाद पर खड़ी की है। आज भी मेरी यह इमारतें अडिग खड़ी हैं-पुरानी पड़कर भी पुरानी नहीं पड़ीं।

मैं इसे वैज्ञानिक नहीं समझता कि काव्य को वस्तुवत्ता से-आदमी के इतिहास से-उसके कार्य-कलाप से-उसके द्वन्द्व से-उसके सुख-दुख से-उसके विचार और चिन्तन से-उसकी भाषा से-उसकी सामाजिकता और राजनीति से-काटकर, केवल उसके (काव्य के) अपने आदिम धरातल पर, समझा और परखा जाय।

मैं इसे भी वैज्ञानिक नहीं समझता कि काव्य का मूल्यांकन-या पुनर्मूल्यांकन-केवल कथ्य या शिल्प या कलात्मकता के आधार पर किया जाय और उसके सामाजिक या राजनयिक प्रभाव को दरकिनार कर दिया जाय और कृति को केवल कृति की एक मात्र इकाई के रूप में देखा जाय। किसी भी कृति या रचना का मूल्यांकन उसे वस्तु मान कर ही किया जा सकता है। कोई भी रचना हो-कृति हो-संगठित संवेदनशील भाषा-बद्ध इकाई होती है। इस इकाई का वस्तुजगत् में-यथार्थ जगत् में-इतिहास में-आदमियों के

समाज में-देश-काल में-एक स्थान होता है। अपने उस स्थान पर आकर यह इकाई दूसरों को उस वस्तुवत्ता का भान कराती है, जो मूर्तजगत् की वस्तुवत्ता के आत्मपरक बनने के उपरान्त रचना-प्रक्रिया से होकर, सम्बद्धशीलता पा चुकी होती है और दूसरों के लिए एक ग्रहणीय संवेदनशील वास्तविक सत्य बन चुकी होती है। अतएव कविता का मूल्यांकन कई दृष्टियों से हो, यही समझ में आता है।

'निराला' इस गुर को समझते थे। उनकी काव्य-प्रगति से यह पूर्णतया परिलक्षित होता है। उनके समकालीन और उनकी आयु के कवियों में इस दृष्टिकोण का निर्वाह नहीं मिलता। इसीलिए 'निराला' हिन्दी-काव्य के समस्त इतिहास में अकेला शीर्षस्थ स्थान रखते हैं।

अज्ञेय की कुछ कविताओं पर जो कुछ मैंने लिखा है, वह कुछ इसलिए लिखा है कि मैंने उनके उस कथ्य को वस्तुवत्ता की कसौटी पर खरा नहीं पाया। उनकी कविताओं की वस्तुवत्ता मूर्तजगत् की वस्तुवत्ता से मेल नहीं खा सकी। वह क्रांतिदर्शी होने चले, परन्तु अहं की झोंक में क्रान्ति-विरोधी हो गये।

'मुक्ति-प्रसंग' पर मेरा लेख एक सशक्त कविता की मूल अशक्त क्षमता को उद्घाटित करता है। युग-सत्य की पकड़ में जो अक्षम्य कमजोरी थी, वह इस कविता में 'उग्रतारा' के तान्त्रिक रूप में प्रकट हुई। मूल्यांकन करते समय मैंने इसके इस पक्ष को यथाशक्ति उभारा है और इसकी विसंगति दिखलायी है।

'लुकमान अली' पर मेरा लेख इसकी विसंगतियों को ध्यान में रखकर लिखा गया है। इसकी विसंगतियाँ आज के युग की मार्मिक विसंगतियाँ हैं। लेकिन इस विसंगतियों का सविस्तार निरूपण भी इस कविता को नीचे नहीं गिरा सका। यह निरूपण सार्थक निरूपण है। विसंगतियाँ युग-बोध तो कराती ही हैं-और भयावह रूप से कराती हैं-परन्तु साथ-ही-साथ उस ओर भी इस कविता को ले जाती हैं, जिस ओर पहुँचकर यह कविता मानवी सहानुभूति का अजस स्रोत बन जाती है और पाठक तिलझ-तिलझकर भी अपनी सहृदयता लुकमान अली पर उँडेल देता है और इस युग की भयावह परिस्थितियों पर आक्रोश से बरस पड़ता है। इसतरह की यह कविता हिन्दी में पहली नयी कविता है, जो भरपूर कविता है और अपने कथ्य और शिल्प में अद्वितीय और अभूतपूर्व है।

मेरी प्रगतिशीलता कइयों की प्रगतिशीलता से भिन्न रही है। मैंने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों को कविता के कसने की कसौटी नहीं बनाया। वह 'पार्टी-वाद' होता और उस 'पार्टी-वाद' से परखना इस अपने युग की काव्य-उपलब्धियों के साथ न्याय-सम्मत न होता। यही सोचकर और समझकर मैंने, 'पार्टी-वाद' से बाहर निकलकर, 'आदमीवाद' अपनाया और कविता को आदमियत की परख से परखा। आदमियत को मैंने संकुचित या साम्प्रदायवादी या धर्मवादी या पूँजीवादी या साम्राज्यवादी दृष्टिकोण से

नहीं पकड़ा। पूँजीवादी या साम्राज्यवादी आदमियत मानवतावादी होने का ढोंग तो करती है, परन्तु होती वस्तुत: अमानवतावादी है। धर्म भी भिखारी को भिखारीपन से नहीं उबारता। बल्कि दया के फेंके टुकड़ों पर पलने देता है। इसी तरह मैं, विसंगतियों से घबराकर, इस देश-काल को तजकर, उस आदिम अवस्था में नहीं पहुँच जाना चाहता, जहाँ पहुँचने के लिए आज के बहुत से 'हिप्पी या बीटनिक' कवि लालायित दिखते हैं और आदमी की समस्त उपलब्धियों को निरर्थक समझते हैं। आज तो 'आत्महत्या' की प्रवृत्ति भी पकड़कर अपना ली गयी है और मर जाने की बात को भी कविता में कहा जाने लगा है। मैं इस सबका घनघोर विरोधी हूँ। मेरे लेखों में मेरा यही स्वर-समुदाय मिलेगा।

बचपन मेरा देहात में बीता है। पढ़ाई के जमाने में शहरों में रहा हूँ। वकील होने के बाद सन् 1938 से बाँदा में हूँ। मैंने वह दुर्दशा नहीं जानी, जो अब के, मेरे बाद की पीढ़ी के, नवयुवक जानते हैं। महानगर में रहना और जीना और रोटी-रोजी की तलाश में त्रस्त होना उनके पूरे अस्तित्व को हिला देता है और वे विसंगतियाँ भोगते-भोगते ऐसी मानसिक तनाव की स्थिति में रहते हैं कि कोई उपचार नजर नहीं आता। इसलिए मेरे गद्य में देहात की लढ़ी और लाठी की चाल और मार मिलेगी। वकील हूँ, इसलिए मेरा गद्य विश्लेषणात्मक और तथ्यपरक अधिक है। तर्क से तना मेरा गद्य जो बात कहता है, दम-खम से उभारकर, बिना शील-संकोच के बल देकर, कहता है। मेरे गद्य की भाषा भी कभी-कभी बहसनुमा-कभी-कभी कठोर और कटु कटारनुमा होती है। मेरा गद्य मेरे अनुभूत सत्य का पक्ष प्रेषित करता और स्थापित करता है। जैसे मैं संशय और संदेह से सौ कोस दूर करता हूँ, वैसे मेरा गद्य भी उनसे उतनी ही दूर रहता है। जैसे मैं आदमी को उसके परिवेश के सन्दर्भ में समझता हूँ। वैसे मेरा गद्य उसे उसके परिवेश के सन्दर्भ में समझता है। मैं होकर भी मैं औरों से घनिष्ठ हूँ। मेरा गद्य भी मेरा होकर औरों के गद्य से घनिष्ठ है। कवि भी हूँ, इसलिए कभी-कभी मेरा गद्य भी काव्यात्मक हो जाता है। दैनिक जीवन में समस्याओं के मूल कारणों को जानना मेरा लक्ष्य होता है। जैसे मैं अन्तर्गुहावासी अहं नहीं हूँ, वैसे मेरा गद्य भी अन्तर्गुहावासी नहीं है। विद्वान् भी नहीं हूँ, इसलिए गद्य में विद्वत्ता का अभाव है। बात बिना बात की नहीं करता। मेरा गद्य भी ऐसा नहीं करता। बात का बतंगड़ बनाना मेरे गद्य की आदत नहीं है। अपराधी को दंड दिलाना मेरा पेशा है। यह पेशा मेरे गद्य का भी है। निर्भीकता से कर्तव्य करता हूँ और मुँह देखकर बात नहीं करता। यही हाल मेरे गद्य का है।

मैं नहीं जानता मेरी यह किताब उन किताबों में कहाँ होगी, जहाँ पेशेवर आलोचकों और प्रोफेसरों की किताबें होती हैं। लेकिन विश्वास तो इतना है ही कि जहाँ सच्चाई होगी, वहाँ वह किताब ज़रूर होगी।

हो सकता है कि यहाँ-वहाँ थोड़ा-बहुत गलत हो और अच्छा भी न लगे। पर ऐसा तो कोई बिरला ही सौभाग्यशाली लेखक होगा, जिसकी सब बात सही हो और अच्छी भी लगे। मैं कोई अपवाद नहीं हूँ।

इन लेखों के गद्य से नितान्त भिन्न मेरे उन पत्रों का गद्य है जो मैंने अपने मित्रों और अभिन्नों को लिखे हैं। वे अधिक आत्मीय और अनौपचारिक हैं। उनमें अधिक खुलापन है। उनका प्रकाशन जब कभी होगा, तब इस पुस्तक के गद्य के वे विचार-विन्दु अधिक स्पष्ट और बोधगम्य ज्ञात होंगे, जो अभी, उनके वगैर, साफ और सहज नहीं प्रतीत होते। पत्र में कही बात प्रतीति की बात होती है। लेख में कही बात तर्क और विवेक की बात होती है।

और, अन्त में, उन सब योग्य और वरिष्ठ न्यायाधीशों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ, जिनके निर्णयों को पढ़-पढ़कर मैं ऐसा गद्य लिखने में समर्थ हुआ। कविता का मूल्यांकन न्याय की भाषा में हो, यही मेरा विचार है।

— केदारनाथ अग्रवाल

अनुक्रम

काव्य-चिन्तन	....	11
गद्य, पद्य और कविता	....	27
प्रेरणा और कविता	....	34
संस्कृति और परिस्थिति	....	44
रूढ़ि और मौलिकता	....	51
कला का स्वभाव और उद्देश्य	....	63
पूँजीवादी साहित्य से जन-साहित्य की ओर	....	71
नयी कविता	....	80
नयी कविता : विवेचन	....	83
आधुनिकता : नयी कविता-समस्या और समाधान	....	91
छंदों का उद्‌भव और विकास	....	101
साहित्य में यथार्थवाद	....	108
'युग की गंगा' की भूमिका	....	114
निराला के गीतों का गठन और उनके सौन्दर्य की गरिमा	....	122
बच्चन : आदमी और कवि	....	126
वाल्ट ह्विटमैन और यथार्थवाद	....	129
शासन, जनता और लेखक	....	137
प्रगतिशील लेखक संघ : मेरे सुझाव	....	149
उल्टी खोपड़ी की उपज	....	154
शमशेर की 'कुछ कविताएँ	....	162
अज्ञेय की पाँच कविताएँ	....	164
राजकमल की काव्य-कृति 'मुक्ति-प्रसंग'	....	170
लुकमान अली	....	175

❑

काव्य-चिन्तन

कविता कोई स्थल नहीं है, जिसकी सीमा बतायी जा सके। वह न एशिया है, न यूरोप; न रूस है, न अमेरिका, न द्वीप है, न प्रायद्वीप; न नदी, न पहाड़। उसकी कोई भौगोलिक स्थिति नहीं है। आज ही नहीं, वह सर्वदा अभौगोलिक रही है और भविष्य में भी अभौगोलिक रहेगी।

किन्तु वह अभौगोलिक होकर भी सब देशों में पायी जाती है। संसार में कोई देश अथवा प्रान्त नहीं है, जहाँ वह पहले न रही हो और अब न हो।

इसका कारण यह है कि वह अपदार्थ है, उसका सम्बन्ध मनुष्य के हृदय से है, जहाँ वह बाह्य प्रक्रिया से पैदा होती है और भाव और विचार बनकर कल्पना के सहारे, शब्दों में लय और ध्वनि के साथ मूर्तिमती होकर, वस्तु-जगत् में प्रकट होती है।

दूसरे शब्दों में, कविता मनोविज्ञान की है, पदार्थ-विज्ञान की नहीं। इससे वह भौतिक जगत् की सीमा से बद्ध नहीं है।

कागज़ पर लिखते समय अवश्य ही वह सीमा-बद्ध हो जाती है। उसका एक छोर वहाँ होता है, जहाँ वह प्रारम्भ होती है, दूसरा छोर वहाँ होता है, जहाँ वह समाप्त होती है। एक प्रकार से, कविता के ये ही दोनों छोर उसकी सीमा हैं।

इसके अतिरिक्त जिन शब्दों में वह व्यक्त होती है, वे भी उसकी एक प्रकार की सीमा बनाते हैं। कुछ चुने हुए शब्द ही उसमें प्रयुक्त होते हैं। उन शब्दों के अलावा कोष के अन्यान्य शब्द व्यवहृत नहीं होते। बस, यही शब्द चुनाव-सीमा का रूप धारण कर लेता है। कविता शब्दों में जकड़ जाती है, कैद हो जाती है। वे शब्द चाहे पहले के प्रयुक्त हुए शब्द हों, चाहे आज के दैनिक प्रयोग के शब्द हों।

यह बात भी नहीं है कि मनोविज्ञान की वस्तु होने के कारण कविता असीम ही है। निस्संदेह वहाँ उसको बहुत विस्तार प्राप्त है; फिर भी वहाँ एक विशेष केन्द्र तक ही एक बार में पहुँच पाती है। यह नहीं होता कि वह उच्छृंखल अन्ध-वेग से आँधी की तरह चले पड़े, रुके नहीं। वह कहीं-न-कहीं रुकती है, घिरती है, जहाँ से आगे नहीं जाती और न आ सकती है। इस सीमा का होना अवश्यम्भावी है और इससे प्रत्येक कविता को घिरना पड़ता है। संसार के किसी कवि ने आज तक असीम कविता नहीं लिखी और न शायद कोई लिख ही सकता है।

यही नहीं, देश, काल और परिस्थितियाँ भी कविता को सीमित करती हैं। बर्फीले प्रदेशों की कविता में बर्फ से ढँके मैदानों का वर्णन मिलेगा; बर्फ से जमी सरिताओं का

वर्णन मिलेगा; उन पशुओं का वर्णन मिलेगा, जो ऊन से ढँके रहते हैं; और उन मनुष्यों का चित्रण मिलेगा, जो चरबी के दीपक जलाकर बर्फ की गुफाओं में, पशुओं की खाल ओढ़कर रहते हैं। उष्ण प्रदेशों की कविता में हरदम बरसने वाले श्याम घनों की घटा मिलेगी, मोती-जैसी दमदमाती धूप की सुन्दरता मिलेगी; चिरयौवना हरीतिमा की मनोमोहक सरस झाँकी मिलेगी; और बहुरंगी लोकप्रिय पशु-पक्षियों की कहानी मिलेगी। रेगिस्तानी प्रदेश की कविता में मृग-तृष्णा की करुण-कथा मिलेगी। हर एक देश की कविता देशीय होगी, विदेशीय न होगी। इसी प्रकार जो कविता भारत के उपनिषद् काल में थी, वह अब नहीं है, जो सोलहवीं सदी में थी, वह बाद में नहीं रही; जो पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के काल में है, वह भविष्य में, जनता के युग में न होगी। परिस्थिति ही समस्त भिन्नता की जननी है। यह भिन्नता ही कविता की सीमा है।

निराला जी की नीचे लिखी कविता से उपर्युक्त समयानुसार कविता के इतिहास की बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। वे कहते हैं :—

वेदों का चर्खा चला,
सदियाँ गुजरीं।
लोग-बाग बसने लगे,
फिर भी चलते रहे।
गुफाओं से घर उठाये।
ऊँचे से नीचे उतरे।
भेड़ों से गायें रखीं।
जंगल से बाग और उपवन तैयार किये॥
खुली ज़बाँ बँधने लगी।
वैदिक से सँवरती भाषा संस्कृत हुई।
नियम बने शुद्ध रूप लाये गये,
अथवा जंगली सभ्य हुए वेशवास से।
कढ़े कोस ऐसे कटे।
खोज हुई, सुख के साधन बढ़े—
जैसे उबटन से साबुन।
वेदों के बाद जाति चार भागों में बँटी,
यही राम-राज है।
बाल्मीकि ने पहले वेदों की लीक छोड़ी,
छन्दों में गीत रचे, मंत्रों को छोड़कर,
मानव को मान दिया।

धरती की प्यारी लड़की सीता के गाने गाये।
कली ज्योति में खिली
मिट्टी से चढ़ती हुई।
'वर्जित स्वैल', 'गुडअर्थ' अब के परिणाम हैं।
कृष्ण ने भी जमीं पकड़ी,
इन्द्र की पूजा की जगह
गोवर्धन को पुजाया;
मानवों को, गायों और बैलों को मान दिया।
हल को बलदेव ने हथियार बनाया,
कन्धे पर डाले फिरे।
खेती हरी-भरी हुई।
यहाँ तक पहुँचते अभी दुनिया को देर है।

[नये पत्ते, पृष्ठ संख्या 30-31]

एक दूसरी रचना इसी बात को और उभारकर यों व्यक्त करती है :-

राजे ने अपनी रखवाली की;
किला बनाकर रहा;
बड़ी-बड़ी फौजें रखीं।
चापलूस कितने सामन्त आये।
मतलब की लकड़ी पकड़े हुए।
कितने ब्राह्मण आये
पोथियों में जनता को बाँधे हुए।
कवियों ने उसकी बहादुरी के गीत गाये,
लेखकों ने लेख लिखे,
ऐतिहासिकों ने इतिहासों के पन्ने भरे,
नाट्यकारों ने कितने नाटक रचे,
रंगमंच पर खेले।
जनता पर जादू चला राजे के समाज का।
लोक-नारियों के लिए रानियाँ आदर्श हुईं।
धर्म का बढ़ावा रहा धोखे से भरा हुआ।
लोहा बजा धर्म पर, सभ्यता के नाम पर।
खून की नदी बही।

आँख-कान मूँदकर जनता ने डुबकियाँ लीं।
आँख खुली-राजे ने अपनी रखवाली की।

[नये पत्ते : पृष्ठ संख्या 24-25]

एक तीसरी रचना भी ध्यान देने योग्य है :-

चेहरा पीला पड़ा?
रीढ़ झुकी। हाथ जोड़े।
आँख का अँधेरा बढ़ा।
सैकड़ों सदियाँ गुजरीं।
बड़े-बड़े ऋषि आये, मुनि आये, कवि आये,
तरह-तरह की वाणी जनता को दे गये,
किसी ने कहा कि एक तीन हैं,
किसी ने कहा कि तीन-तीन हैं।
किसी ने नसें टोईं, किसी ने कमल देखे।
किसी ने विहार किया, किसी ने अँगूठे चूमे।
लोगों ने कहा कि धन्य हो गये।
मगर खँजड़ी न गयी।
मृदंग तबला हुआ,
वीणा सुरबहार हुई।
आज पियानों के गीत सुनते हैं।
पौ फटी।
किरनों का जाल फैला।
दिसाओं के होंठ रंगे।
दिन में वेश्याएँ जैसे रात में।
दगा की इस सभ्यता ने दगा की।

[नये पत्ते, पृष्ठ संख्या 28-29]

हिन्दी-साहित्य का पिछला सम्पूर्ण इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत में भी अन्य देशों की तरह भिन्न-भिन्न युग में भिन्न-भिन्न प्रकार की कविता रची गयी है। अपने युग से आगे कोई भी कविता नहीं गयी। वीरगाथा-काल में पृथ्वीराज रासो की कविता ही उस युग की कविता थी। वीरता के वर्णन के अतिरिक्त कविता का अन्य कोई ध्येय न था। वह उस समय उससे आगे न जा सकती थी; क्योंकि बाह्य परिस्थितियाँ ऐसी थीं, जो वैसा लिखने को बाध्य करती थीं। तदुपरान्त भक्तिकाल में कविता राम और कृष्ण की सगुण और निर्गुण उपासना तक ही सीमित रही। यह भी

उस काल की परिस्थितिवश था। फिर रीतिकाल आता है, तब कविता राजाश्रय ग्रहण करती है और वैभव-विलास में तल्लीन हो जाती है। राजाओं का यशगान कवियों का कर्त्तव्य हो जाता है। किन्तु भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के आने पर नवयुग का आविर्भाव होता है और कविता जनता के जीवन की सामाजिक, राजनैतिक और मानसिक अवस्थाओं का चित्रण करने लगती है।

ये ही सब सीमाएँ हैं, जिनसे कविता घिरी है। इन सीमाओं को तोड़कर कविता असीम नहीं हो सकती; न मुक्त आकाश में विचर सकती है; न कल्पना की अनियंत्रित उड़ान भर सकती है; और न अनिल-आकाश का रूप ही धारण कर सकती है। किन्तु इतना अवश्य है कि कविता का वृत्त उत्तरोत्तर मानव-विकास के साथ बढ़ता ही जाता है। पहले वह एक विन्दु थी, तो अब वह एक परिधि का आकार ग्रहण कर रही है। इसीलिए अब की कविता के विषय भी बदल गये हैं।

ऐसा क्यों होता है? कविता क्यों बदलती जाती है? इसपर आगे विचार होगा।

साहित्य–शास्त्रियों का कथन है कि कविता के तीन आवश्यक तत्त्व हैं–(1) संगीत, (2) रस और (3) अलंकार।

उनका यह शास्त्रीय मत है कि इन तत्त्वों से रहित रचना कविता नहीं हो सकती। अपने इस मत के प्रमाण में वे कहते हैं कि सब देशों में कविता और संगीत में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध मिलता है। सब देशों में भावानुकूल रस का परिपाक होता है और सर्वत्र अच्छी कविता में अलंकारिक चमत्कार अवश्य विद्यमान रहता है।

इसमें सन्देह नहीं कि उपर्युक्त तत्त्व कविता में पाये जाते हैं। किन्तु अब यह देखना है कि ये तत्त्व आये कैसे; कब, किन परिस्थितियों में इनको ग्रहण किया गया; किस हेतु इनका ग्रहण आवश्यक हुआ; उन कारणों के मूल में मनुष्य की कैसी संस्कृति काम कर रही थी; और क्या ये तत्त्व चिरंतन और चिरस्थायी भी हैं कि युग के साथ बदलते भी हैं।

इसके लिए ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन करना अत्यधिक श्रेयस्कर होगा।

मनुष्य अपनी आदिम अवस्था में कन्दराओं में रहता था; पशु-पक्षियों का आखेट करता था, पत्थर वगैरह के औजार काम में लाता था; मारे हुए जीवधारियों को खा जाता था; उसमें कुटुम्ब का भाव न जगा था; वह एकाकी रहता था और अपने तक ही केन्द्रित था।

क्रमशः उसमें सहयोग की भावना उत्पन्न हुई। वह सामूहिक तरीके से काम करने लगा। जहाँ वह पहले अकेले शिकार करता था, वहाँ अब वह दस-पचास की संख्या में एकसाथ वन-विटप काटने और साफ करने लगा; एक साथ बड़े-बड़े शिलाखंड तोड़-तोड़कर रास्ता बनाने लगा; एक साथ मिलकर निवास स्थान बनाने लगा। और इसी सामूहिक श्रम के समय उसके कंठ से एक विशेष ध्वनि उत्पन्न हुई। यह ध्वनि काम

करने में संलग्न करती थी; काम के भार को हल्का करती थी और शारीरिक अवयवों की एकमात्र प्रतिक्रियात्मक उपज थी। पहले तो यह ध्वनि अर्थहीन स्वरारोह-अवरोह मात्र थी, किन्तु बाद को, जैसे-जैसे मनुष्य की भाषा उसके विकास के साथ समुन्नत होती गयी, यह ध्वनि भावात्मक होती गयी; अर्थात् उसमें मनुष्य के विचार और भाव भी व्यक्त होने लगे। यही अवस्था थी, जब मनुष्य के जीवन में नृत्य और संगीत आये थे। नृत्य में मनुष्य के शारीरिक अवयवों का क्रमिक दोलन संगृहीत होने लगा। संगीत में मनुष्य की आन्तरिक प्रक्रिया का स्वर-रूप संचित होने लगा। और यही संगीत जब क्रमशः एक अवस्था आने पर अत्यधिक भाषात्मक होने लगा, तब पद्यबद्ध कविता का जन्म हुआ। संगीत अलग हो गया। कविता अलग हो गयी।

कविता श्रम के संगीत से जनमी थी, इसी से उसमें लय है, गति है, मात्राएँ हैं और अबतक अत्यधिक स्वर का चमत्कार है। छंदों का समावेश होना जरूरी था और वे कविता में आये। मनुष्य ने सीखा कि कविता पद्यबद्ध होती है। तभी से आजतक यह कहा जाता है कि कविता पद्यबद्ध ही होती है।

संगीत और कविता के सुन्दर समन्वय के उत्तम उदाहरण भी इसी से काव्य में बहुत मिलेंगे। देखिए :-

भारति, जय-विजय करे!
कनक-शस्य कमलधरे!
लंका पदतल-शतदल गर्जितोर्भि सागर-जल
धोता शुचि चरण युगल,
स्तव कर बहु-अर्थ-भरे।
तरु-तृण-वन-लता वसन, अंचल में खचित सुमन,
गंगा ज्योतिर्जल-कण धवल-धार हार गले।
मुकुट-शुभ्र हिम-तुषार, प्राण-प्रणव ओंकार,
ध्वनित दिशाएँ उदार,
शतमुख-शतरव-मुखरे!
[गीतिका, पृष्ठ संख्या 71; गीत संख्या 69]

निराला का दूसरा गीत भी संगीतात्मक काव्य का बहुत अच्छा उदाहरण है। वह यों है :-

''वर दे वीणावादिनि वर दे!
प्रिय स्वतन्त्र-रव अमृत-मन्त्र नव भारत में भर दे!
काट अन्ध-उर के बन्धन-स्तर
बहा जननि, ज्योतिर्मय निर्झर;
कलुष भेद-तम हर प्रकाश भर जगमग जग कर दे!

नवगति, नवलय, ताल-छंद नव,
नवल कण्ठ, नब जलद-मन्द रव;
नव नभ के नब विहग-वृन्द को नव पर नव स्वर दे!

[गीतिका, पृष्ठ संख्या 1]

अब उस कविता के उदाहरण देखिए, जो केवल पद्यबद्ध हैं—संगीतमयी नहीं हैं।

(1)

भारत के नभ का प्रभापूर्य
शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज रे—तमस्तूर्य दिङ् मंडल;
उस के आसन पर शिरस्त्राण
शासन करते हैं मुसलमान;
हैं ऊर्मिल जल निश्चल प्राण पर शतदल।

[तुलसीदास, पृष्ठ संख्या 3 पद्य संख्या 1

(2)

है अमानिशा; उगलता गगन घन अन्धकार;
खो रहा दिशा का ज्ञान; स्तब्ध है पवन चार;
अप्रतिहत गरज रहा पीछे अम्बुधि विशाल;
भूधर ज्यों ध्यान-मग्न; केवल जगती मशाल।
स्थिर राघवेन्द्र को हिला रहा फिर फिर संशय।
रह-रह उठता जग जीवन में रावण-जय-भय;

[अनामिका, पृष्ठ संख्या 150]

(3)

'ये अश्रु राम के' आते ही मन में विचार,
उद्वेल हो उठा शक्ति-खेल-सागर अपार,
हो श्वसित पवन-उनचास, पिता-पक्ष से तुमुल,
एकत्र वक्ष पर बहा वाष्प को उड़ा अतुल,
शत धूर्णावर्त, तरंग-भंग उठते पहाड़,
जल-राशि राशि-जल पर चढ़ता खाता पछाड़;
तोड़ता बन्ध—प्रतिसन्ध धरा, हो स्फीत वक्ष
दिग्विजय-अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष
शत-वायु-वेग बल, डुबा अतल में देश-भाव,
जलराशि विपुल मथ मिला अनिल में महाराव,

वज्रांग तेजघन बना पवन को, महाकाश
पहुँचा, एकादशरुद्र क्षुब्ध कर अट्टहास।

[अनामिका, पृष्ठ संख्या 151]

अब कविता के वे उदाहरण देखिये, जो न संगीतात्मक हैं, न पद्यबद्ध हैं, वरन् गद्यात्मक हैं :–

(1)

आज ठंडक अधिक है।
बाहर ओले पड़ चुके हैं,
एक हफ्ते पहले पाला पड़ा था–
अरहर कुल की कुल मर चुकी थी,
हवा हाड़ तक वेध जाती है,
गेहूँ के पेड़ ऐंठे खड़े हैं,
खेतिहरों में जान नहीं,
मन मारे दरवाजे कौड़े ताप रहे हैं
एक दूसरे से गिरे गले बातें करते हुए,
कुहरा छाया हुआ।
ऊपर से हवाबाज उड़ गया।
जमींदार का सिपाही लट्ठ कन्धे पर डाले
आया और लोगों की ओर देख कर कहा,
'डेरे पर थानेदार आये हैं,
डिप्टी साहब ने चन्दा लगाया है,
एक हफ्ते के अन्दर देना है।
चलो, बात दे आओ।'
कौड़े से कुछ हट कर
लोगों के साथ कुत्ता खेतिहर का बैठा था,
चलते सिपाही को देख कर खड़ा हुआ,
और भौंकने लगा,
करुणा से बन्धु खेतिहर को देख-देख कर!'

[नये पत्ते, पृष्ठ संख्या 54-55]

(2)

शिशिर की साँझ यह
छाई हरे खेतों पर, ठंढी ओस लिए धूलि-भरे
गलियारों पर
लौट आये थके-माँदे घर को सभी किसान।
नगर की गलियों में
काला-काला धुँआँ छाया दबा हुआ ओस से।
लहू की बूँदों-से
जलते हैं बिजली के बल्ब सूनी सड़कों पर—
लाल-लाल
शिशिर की रात यह निश्चिंत,
निद्रित हों जन मानों दीर्घ काल रात्रि में।
कुहरे से मुँदे हुए,
ईश के सुवर्ण सिंहासन के पार्श्व से,
उड़ चले पुष्पक-विमान पृथिवी की ओर।
करते हैं पुष्प-वृष्टि,
नष्ट करते हैं नर-सृष्टि, कर अग्नि-वृष्टि
दुर्दम नृशंस आततायियों के ध्वंसकारी वायुयान!
हरे-हरे खेतों के,
काले काले लोहे के कल-कारखानों के,
नीचे कहीं दबा था भूकम्प एक चुपचाप!
तोड़ कर स्तब्धता सुदीर्घ कालरात्रि की,
फैल गया चीत्कार प्राणियों का वन में, नदी के तीर!
शिशिर की ओस-भरी ठंडी रात,
लाल हुआ लपटों से आसमान!
अग्नि विद्रोह की
तोड़ कर क्षमाशील पृथिवी के वक्ष को,
सहस्रों शिखाओं में, उठी है गगन में, सुवर्ण
सिंहासन ओर।

मज्जा और माँस से सने हुए मशान में
प्रज्वलित चिता की लपटों में,
अविनश्वर लिखी है शांति संसार की।

[तारसप्तक, पृष्ठ संख्या 71-72]

—रामविलास शर्मा

(3)

जिस समाज में तुम रहते हो
यदि तुम उसकी एक शक्ति हो
जैसे सरिता की अगणित लहरों में
कोई एक लहर हो
तो अच्छा है
जिस समाज में तुम रहते हो
यदि तुम उसकी सदा सुनिश्चित
अनुपेक्षित आवश्यकता हो
जैसे किसी मशीन में लगे बहुकल-पुर्जों में
कोई भी कल-पुर्जा हो
तो अच्छा है
जिस समाज में तुम रहते हो
यदि उसकी करुणा ही करुणा
तुमको यह जीवन देती है
जैसे दुर्निवार निर्धनता
बिल्कुल टूटा-फूटा वर्तन घर किसान के रक्खे रहती
तो यह जीवन की भाषा में
तिरस्कार से पूर्ण मरण है
जिस समाज में तुम रहते हो
यदि तुम उसकी एक शक्ति हो
उसकी ललकारों में से ललकार एक हो
उसकी अमित भुजाओं में दो भुजा तुम्हारी
चरणों में दो चरण तुम्हारे

आँखों में दो आँख तुम्हारी
तो निश्चय समाज-जीवन के तुम प्रतीक हो
निश्चय हो जीवन चिर-जीवन

[धरती, पृष्ठ संख्या 78-79]
—त्रिलोचन

हाथ पर हाथ धरे हिन्दुस्तान की जनता बैठी है
कभी-कभी सोचती है—देखो, राम या अल्लाह
किसके पल्ले बाँधते हैं हम सबको
हिन्दुस्तान ऐसा है
बस जैसा-तैसा है

[धरती, पृष्ठ संख्या 81-82]
—त्रिलोचन

उपर्युक्त उद्धरणों से प्रमाणित है कि कविता संगीतात्मक ही नहीं होती, वरन् पद्यात्मक और गद्यात्मक भी होती है। यह कहना कि कविता संगीतात्मक ही होती है, प्रवंचना होगा। इसलिए कविता का आवश्यक तत्त्व संगीत नहीं हुआ। बिना संगीत की कविता पद्यात्मक या गद्यात्मक होती है, जिसकी उपेक्षा कदापि नहीं की जा सकती। यदि संगीत ही कविता का आवश्यक तत्त्व होता, तो संगीतज्ञों के वे गीत ही कविता के उत्तम उदाहरण होते, जिनका कोई अर्थ ही नहीं होता। और जो बहुधा बेसिर-पैर के भी होते हैं।

यह चिंतनीय है कि संगीत ने कविता को बहुत मधुर और प्रिय बनाया है। यह भी चिंतनीय है कि संगीत ने कविता को गेय बनाकर नृपतियों का मनोरंजन किया है। किन्तु इसपर भी संगीत कविता का आवश्यक तत्त्व नहीं है। जो कुछ भी संगीत और कविता का अभिन्न मेल-मिलाप गतकाल में मिलता है, वह केवल इसलिए कि उस समय के कला-मर्मज्ञ राजा लोग ही थे, जिनकी रुचि निराली ही थी और जिनका स्वाद जन-साधारण के स्वाद से सर्वथा भिन्न ही था। उनको उस संगीत की आवश्यकता थी, जो वैभव-विलास से पूर्ण हो और कामोत्तेजक हो। साथ ही ऐसा भी हो, जिसे जनसाधारण अपना न सके और जो केवल मात्र राजदरबार की सम्पत्ति बना रहे। इसलिए कविता राग-रागिनियों में बँधी और कुशल गायनाचार्यों के कंठ से निःसृत होती रही।

यही नहीं, कुछ ऐसे भी कवि हुए, जो जनसाधारण के लिए कविता बनाकर गाते फिरे। वे कविताएँ भी संगीतात्मक होती थीं, किन्तु उनके संगीत में वह दुरूहता नहीं होती थी, जो राजदरबारी कविताओं के संगीत में होती थी। संत कवियों को यह श्रेय प्राप्त है। वे निम्नकोटि की जनता के सम्पर्क में आते थे और उसी के स्वर के साधारण गीत लिखकर उसका कल्याण करते थे। ऐसे गीतों के रचे जाने का कारण यह था कि मानव-जीवन से संगीत का सम्बन्ध अभी तक न छूटा था।

कविता में संगीत का प्राधान्य केवल युग-विशेष और वर्ग-विशेष की वस्तु थी। जैसे-जैसे वह युग मिटता गया, जैसे-जैसे वह वर्ग मिटता गया, संगीत का प्राधान्य भी कविता से मिटता गया। अब तो लोग यह भी कहते हैं कि गाना और है, कविता और है।

निष्कर्ष यही निकलता है कि संगीत कविता का आवश्यक तत्त्व नहीं है।

रस

स्थायी भाव नौ माने गये हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं :–

(1) रति, (2) शोक, (3) क्रोध, (4) भय, (5) उत्साह, (6) जुगुप्सा, (7) ह्रास, (8) विस्मय और (9) शम। इन्हीं के आधार पर नौ रस माने गये हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं–(1) शृंगार, (2) करुण, (3) रौद्र, (4) भयानक, (5) वीर, (6) वीभत्स, (7) हास्य, (8) अद्‌भुत और (9) शांत।

इन्हीं रसों को काव्य की आत्मा कहा गया है। शृंगार को रसराज माना गया है।

हिन्दी में यह रस-निरूपण संस्कृत से आया है। भरत मुनि का नाट्यशास्त्र काव्य-समीक्षा का बहुत मान्य ग्रन्थ है। रस का विवेचन वैसे तो भरत मुनि ने नाटक के सम्बन्ध में किया है, किन्तु वह उस क्षेत्र से निकाल कर कविता के क्षेत्र में लाया गया है। नाटकों में तब महान् प्रभुत्वशाली व्यक्ति का चित्रण होता था और नाट्यकार अपनी सम्पूर्ण शक्ति उस एक व्यक्ति के गुणानुवाद में व्यय करता था। साधारण जनता को नायक अथवा नायिका का पद नहीं प्राप्त होता था; न जनसाधारण की मनोदशा का ही अंकन होता था। इसलिए जब रस-परिपाटी हिन्दी में आयी, तब वहाँ भी वही हुआ, जो संस्कृत में हुआ था। राजदरबारी कवियों ने आश्रयदाता राजाओं की मनोवृत्ति के अनुकूल ही रस-परिपाक करना अपना परम कर्तव्य समझा। रसराज-नायिका-भेद लिखा गया। मतिराम ने 'रसराज', देव ने 'शृंगार-निर्णय' और पद्‌माकर ने 'जगद्‌विनोद' का प्रणयन किया।

हिन्दी के समस्त रस-ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कवियों ने जीवन की सहस्रमुखी प्रगतिशील धारा को छोड़कर केवल स्थायी भावों के शास्त्रीय विवेचन में लीन रहने का व्रत लिया था। यही कारण है कि रीतिकालीन कवि जन-जीवन की कविता नहीं दे सके। उनकी रचनाओं में एकमात्र काव्य-कौशल ही मिलता है।

रीतिकालीन कवियों के बाद से हिन्दी में फिर रस की दुंदुभी बजाने का सफल प्रयास नहीं हुआ। इसका कारण यह था कि तब अंग्रेजों के आगमन से देश का जीवन नयी करवट लेने लगा था। आज रसोद्धार का कोई नाम तक नहीं लेता। हाँ, अब डॉ० नगेन्द्र अवश्य रस के सिद्धान्त को पुनः सप्रयास प्रतिपादित करने में लगे हैं। उनका ग्रन्थ भी प्रकाशित हुआ है। परन्तु वह आज स्वीकार नहीं हो रहा है।

फलतः यही सिद्ध होता है कि रस-परिपाटी जीवित कविता की गति में बाधक

होती है। वह अवरोध है, और एकमात्र राजाश्रित कवियों की बनायी हुई है। वह आदिकवि के काव्य में नहीं मिलती। न ही बाद को मिलती है। यदि रस ही काव्य की आत्मा होता, तो वह सबकी कविता में मिलता।

तथापि रस भी कविता का आवश्यक तत्त्व नहीं है।

अलंकार

साहित्य-दर्पणकार ने कहा है :–

शब्दार्थ योरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनाः।
रसादी नुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गादिवत्॥

शब्द और अर्थ के वे अस्थिर धर्म, जो काव्य की शोभा बढ़ाते हैं तथा रस और भावादि का उत्कर्षोपकार करते हैं, अलंकार कहलाते हैं।

मतिराम ने ललितललाम में कहा है :–

रस, अर्थन ते भिन्न जो, शब्द अर्थ के माँहि।
चमत्कार, भूषण सरिस, भूषण मानत ताहि॥

काव्य में उस चमत्कार को अलंकार मानते हैं, जो रस और भाव से अलग होकर शब्द और अर्थ में आभूषण के समान रहता है।

साहित्य में अलंकार की योजना उसी प्रकार है, जिसप्रकार समाज में स्त्रियों के गहनों की।

विलासी और मनोविनोदी राजाओं का आश्रय पाने पर हिन्दी के कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की रुचि के अनुकूल ही काव्य-रचना भी की। यही कारण है कि उन सब कवियों में अत्यधिक अलंकारप्रियता पायी जाती है। इसके विपरीत संत-कवियों में अलंकार खोजने पर मुश्किल से मिलते हैं। उनमें अलंकार न होने का कारण यह था कि वे जनता के जीवन के अधिक सम्पर्क में थे, जो विलासी और मनोविनोदी न था, वरन् संकटमय था। वर्ग-विशेष की कविता में अलंकार-ही-अलंकार मिलते हैं। जन-जीवन की कविता में अलंकार मिलते ही नहीं।

अलंकारों की बहुलता वाणी-व्यसन के अतिरिक्त कुछ नहीं है। परिणाम होता है कि जीवन भुला दिया जाता है और केवल सौन्दर्य-लिप्सा की पूर्ति का सफल प्रयास होने लगता है और इस प्रयास में वाक्-पटुता इस हद तक पहुँच जाती है कि उसे कवियों की मानसिक ऐयाशी अथवा व्यभिचार कहना पड़ता है।

जन-जीवन की कविता में अलंकार का अत्यन्त न्यून स्थान है। इसी से वर्तमान समय में कवियों को उसके चक्कर में न पड़ना चाहिए। वह काव्य का आवश्यक तत्त्व ही नहीं है।

तब कविता का आवश्यक तत्त्व क्या है? इस प्रश्न का उत्तर कविता के ऐतिहासिक अध्ययन से ही दिया जा सकता है। ऐतिहासिक विवेचना का परित्याग करके इसका उत्तर कदापि नहीं दिया जा सकता। वैसा करना कविता के क्रमिक विकास को विस्मरण करना होगा। कविता कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो शाश्वत है, अपरिवर्तनशील है। वह मनुष्य के विकास के साथ स्वयं निरंतर विकसित हो रही है। इसलिए कविता की जो व्याख्या वीरगाथा-काल में समझी गयी थी, वह व्याख्या आज मान्य नहीं हो सकती। इसी प्रकार जो व्याख्या रीतिकालीन कवियों ने मानी थी, वह भी स्वीकृत नहीं हो सकती। उन कालों में परिस्थितियाँ दूसरी थीं, प्रगतिशील शक्तियाँ दूसरी थीं, और अब आज युग दूसरा है, और प्रगतिशील शक्तियाँ भी दूसरी हैं। यदि आज प्रगतिशील शक्तियों की अवहेलना करके कविता पुनः अपने अतीत के तत्त्वों का प्रदर्शन करती है, तो वह कविता मृत कविता होगी—उसका आज के साहित्य में वही स्थान होगा, जो पुरखों की सड़ी-गली हड्डियों का।

इसलिए आज कविता के आवश्यक तत्त्व वे हैं, जो देश की समस्त प्रगतिशील शक्तियों के शोषित, शासित और विद्रोही जीवन के राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक पहलुओं से, प्रगतिशील तरीके से सम्बन्धित हैं और जो नवीन परिस्थितियों में जनसाधारण की नयी प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुए हैं।

देश की प्रगतिशील शक्तियाँ हैं मजदूर-किसान, जो संख्या में अधिक हैं, जिनके श्रम से ही यह दुनिया दुनिया है, जो अब उठ खड़े हो रहे हैं, और जो अब शोषण से पिंड छुड़ाना चाह रहे हैं। वे ही प्रगतिशील हैं, जो साम्राज्यवाद और पूँजीवाद से लड़ रहे हैं और उपनिवेशवाद को परास्त कर रहे हैं।

इसलिए मजदूर-किसान के जीवन की समस्याएँ, उनके भाव और विचार, उनके संघर्ष के तरीके, उनका समस्त आन्दोलन और उनकी समस्त प्रक्रियाएँ कविता के आवश्यक तत्त्व हैं। कवि इन तत्त्वों को ग्रहण करता है और कविता में व्यक्त करता है। किन्तु कवि का व्यक्तित्व कविता का आवश्यक तत्त्व नहीं है। यह युग-कवि के एकान्तिक व्यक्तित्व का युग नहीं है और न कभी किसी युग में कवि का ऐसा व्यक्तित्व कविता का आवश्यक तत्त्व रहा है। लेकिन जिसने यह बात नहीं समझी, उसी ने धोखा खाया। यह देखकर कितना दुःख होता है कि अब भी बहुत से समर्थ व्यक्ति अपने निजी सुख-दुःख और निराशा के गीत लिखते हैं। वे इस लोक से परे किसी अभौतिक लोक में अकेले ही अपने व्यक्तित्त्व की पीड़ा से पीड़ित रहते हैं।

अब कविता जनसाधारण की वस्तु है और जनसाधारण के तत्त्व ही उसके आवश्यक तत्त्व हैं।

कवि का व्यक्तित्त्व एक सक्रिय माध्यम है, जिसके द्वारा युग की कविता नाना रूपों में निःसृत होती है। कवि का ऐकान्तिक व्यक्तित्त्व ही जब कविता का आवश्यक तत्त्व मान लिया जाता है, तब कविता जन-जीवन का धरातल छोड़कर कवि के व्यक्तित्त्व के

आकाश में निराधार विचरण करने लगती है। ऐसी दशा में व्यक्तिवादी काव्य-प्रणाली का जन्म होता है। कवि जनसमूह की बात न कहकर केवल अपने दु:ख-सुख और कल्पना का गाना गाने लगता है। यह व्यक्तिवादी कविता कभी-कभी परम्परा से प्राप्त अध्यात्मवाद की रहस्यात्मकता भी ग्रहण कर लेती है और एक अनोखे लोक की तसवीर प्रस्तुत करने लगती है। यह सब भूतकाल में क्षम्य था, जब समस्त जन-शक्ति का जागरणकाल नहीं था; केवल कुछ ही प्रगतिशील शक्तियाँ उभरकर ऊपर आयी थीं। इस समय परिस्थितियाँ नितान्त परिवर्तित हो गयी हैं। यह वह समय है, जब किसान यह कहता है कि भूमि उसकी है, जो जोते। यह वह समय है, जब मजदूर कहता है कि मिल-कारखाने उसके हैं और मुनाफा की रकम में उसके ही श्रम की अत्यधिक कमाई है। यह वह समय है, जब हरेक नौजवान यह घोषित करता है कि साम्राज्यशाही का नाश हो। इन नयी चेतन परिस्थितियों में यह कदापि समय का तकाज़ा नहीं है कि ऐसे व्यक्तिवाद की रट लगायी जाय, केवल रंग-बिरंगे काल्पनिक शीशमहलों की सृष्टि की जाय; केवल निराशा, केवल अश्रु विगलित किये जायँ और केवल मीरा अथवा जायसी की कविता की पुनरावृत्ति की जाय। आज तो वही कविता कविता है, जो उपर्युक्त प्रगतिशील शक्तियों का जीवन अपनाकर उन्हीं से अपने आवश्यक तत्त्व प्राप्त करती है और फिर चल पड़ती है कंकड़-पत्थर के संसार के संघर्षमय धरातल पर, इस हेतु कि मरते-खपते साधारणजन का उत्साह भंग न हो; वह पीछे न लौटे; अपनी सम्पूर्ण शक्ति से जनता के नव-निर्माण की मंजिल तय करता चले, और यह प्रत्येक पल, प्रत्येक क्षण यही अनुभव करता चले कि हाँ, उसके साथ उसके कवि, उसके लेखक और उसका समस्त सांस्कृतिक बल है।

छायावाद की कविता व्यक्तिवाद की कविता है। यह व्यक्तिवाद पूँजीवाद के प्रसाद के कारण जन्मा है। सामन्तवाद ने पूँजीवाद के पहले व्यक्ति को बन्धन में रख छोड़ा था। पूँजीवाद ने आकर व्यक्ति को स्वाधीनता दी, किन्तु उसे एक नयी जंजीर से जकड़ भी लिया। वास्तविक स्वाधीनता केवल किन्हीं थोड़े पूँजीपतियों को प्राप्त हो सकी, समस्त जनता फिर भी अशक्त और गुलाम रही। इस स्वाधीनता के युग में छायावाद आया और उसने व्यक्ति की स्वाधीनता का सहारा लेकर व्यक्तिवादी कविताएँ दीं। जिसप्रकार पूँजीवाद में असंगतियाँ थीं, उसी प्रकार छायावाद में भी। पूँजीवाद ने अपहरण किया श्रमजीवियों का; अपने साथ युद्ध लाया। छायावाद ने अपना विस्तार मन:लोक में किया, जिसका प्रसार अछोर है। नतीजा वही हुआ, जो होना था। निराशा बढ़ी; आँसू उमड़ चले; उच्छ्वास नि:सृत हुआ, और शून्य के तार झंकृत होने लगे। जिसप्रकार केवल पूँजीवादी थोड़ी-बहुत स्वाधीनता-स्वच्छंदता का अनुभव करने लगे, उसी प्रकार छायावादी कवि भी काव्यलोक में स्वाधीनता का मनमाना उपभोग करने लगे। किन्तु यह एक ऐतिहासिक भूमिका थी, जो पूर्ण हो चुकी है और अब जनता के युग में नयी कविता का जन्म हो रहा है।

यहाँ पर छायावादी निराशा और व्यक्तिवाद के ऊपर लिखी गयी वीरश्वर जी की एक कविता के कुछ उद्धरण देकर बात साफ करना श्रेयस्कर होगा–

बुझे क्या आँसुओं से हैं सितारे?
मरा है कब सितम आहों से मारे?
.....
.....
अरे फेंको पुरानी बाँसुरी को!
पपीहा बन के जो 'पी' कर रहे हो,
धुँएँ के बादलों को जी रहे हो।
हवा में भी कहीं बनते महल हैं?
कहाँ सुख से रहे जग में निबल हैं?
न सोजे-दिल से यह रोटी पकेगी।
न बातों से खरी-खोटी बनेगी।
ये चूल्हा माँगता है तन का ईंधन।
ये जरमन चाहता है लौह के घन।
.....
.....
अगर अवतार अपना चाहते हो,
हरा घर-बार करना चाहते हो,
तो इस मिट्टी की सीता को जगाओ!
चला दो हल, धरा अपनी बनाओ!

[नया साहित्य , भाग 2]

उपर्युक्त उद्धरण में छायावादी नैराश्य की ओर स्पष्ट लक्ष्य है। चोट करारी है। साथ ही धरती की सीता को जगाने में यह भी निर्देशित किया गया है कि अब युग धरती के पुत्रों का है और कवि की लेखनी भी उन्हीं के हेतु चलकर कल्याणमयी हो सकती है। इसके विपरीत चलकर लेखनी पिछड़ सकती है, आगे नहीं बढ़ सकती। उसमें वर्तमान जीवन की बहुमुखी धाराएँ प्रवाहित होंगी। वह कीचड़ मात्र होगी।

❑

गद्य, पद्य और कविता

संक्षिप्त हिन्दी शब्द-सागर में गद्य का अर्थ इस प्रकार दिया है :–

'वह लेख, जिसमें मात्रा और वर्ण की संख्या और स्थान आदि का कोई नियम न हो। वार्तिक। पद्य का उलटा।'

उसी शब्द-सागर में पद्य का यह अर्थ दिया है :–

'जिसमें कविता के पद हों। पिंगल के नियमों के अनुसार मात्रा या वर्ण का चार चरणोंवाला छंद। कविता। गद्य का उलटा।'

और उसी में कविता का नीचे लिखा अर्थ मिलता है :–

'मनोविकारों पर प्रभाव डालनेवाला रमणीय पद्यमय वर्णन काव्य।'

गद्य और पद्य का पारस्परिक भेद बहुत स्पष्ट है। पद्य को उलट दीजिए गद्य हो जायगा। पद्य में पिंगल के नियमानुकूल मात्रा या वर्ण का विचार रहता है, किन्तु जब यह विचार-भेद मिटा दिया जाता है, तो वही पद्य गद्य का रूप ग्रहण कर लेता है। इसलिए गद्य और पद्य में केवल आकार का विशेष भेद-मात्र है। वैसे दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

उदाहरण के लिए रहीम कवि के दो दोहे नीचे दिये जाते हैं :–

(1) रहिमन चुप ह्वै बैठिये, देखि दिनन को फेर।
जब नीके दिन आइहैं, बनत न लगिहैं बेर।

(2) रहिमन निज मन की बिथा, मनहीं राखौ गोय।
सुनि इठिलैहैं लोग सब, बाँटि न लैहैं कोय।

इन दोनों दोहों को उलट देने से उनका नीचे लिखा रूप प्राप्त हो जाता है :–

(1) 'रहिमन दिनन को फेर देख चुप ह्वै बैठिये जब नीके दिन आइहैं बनत बेर न लगिहैं।'

(2) 'रहिमन निज मन की बिथा मनहीं गोय राखौ। सब लोग सुनि इठिलैहैं। कोय बाँटि न लैहैं।'

अब यह कहना किपद्य में रस और अलंकार की बहुलता रहती है, इससे वह गद्य से भिन्न है, कोई अर्थ नहीं रखता। जैसे पद्य में रस की सृष्टि होती है, वैसे गद्य में भी

तो हुई है और होती जा रही है। पद्य में ही नहीं, गद्य में भी अलंकारों की छटा दिखायी गयी है। गद्य और पद्य की, केवल रस और अलंकार के विश्लेषण से, कोई भिन्नता नहीं स्थापित की जा सकती है।

लाल कवि ने 'षटश्रुत हजारा' में 'पावस' का वर्णन इसप्रकार किया है :–

आयी रितु पावस लौं यौवन चढ़ाई
करि शैशव को फंद बंद छोरन चहत है।
ग्रीषम समान मिट्यो जात गुरुजन भीति
पवन सुछंदता झकोरन चहत है॥
काम को घनेरो घन बरसि सनेह बुन्द
तन मन प्रान सबै बोरन चहत है।
बयस नदी में लाल प्रेम को प्रवाह बाढ्यो
लोक लाज सीमा हाय तोरन चहत है॥

अब इसी 'पावस' का वर्णन लल्लूलाल जी की गद्य की भाषा में देखिए :–

'श्री शुकदेव मुनि बोले कि–महाराज! ग्रीषम की अति अनीति देख, नृप पावस, प्रचण्ड पशु-पक्षी, जीव-जन्तुओं की दशा विचार, चारों ओर से दल, बादल साथ ले, लड़ने को चढ़ आया। तिस समय जो घन गरजता था सोई धौंसा बजता था और वर्ण-वर्ण की घटा जो घिर आयी थी, सोई शूर-वीर रावत थे; तिनके बीच बिजली की दमक शस्त्र की-सी चमकती थी, बगपांत ठौर-ठौर ध्वजा-सी फहराय रही थीं, दादुर, मोर कड़खेतों की-सी भाँति यश बखानते थे और बड़ी-बड़ी बूँदों की झड़बाणों की-सी झड़ी लगी थी। इस धूमधाम से पावस को आते देख ग्रीष्म, खेत छोड़, अपना जी ले भागा; तब मेघ पिया ने वर्षा से पृथ्वी को सुख दिया। उसने जो आठ महीने पति के वियोग में योग किया था, तिसका भोग कर लिया।'

दोनों में इतना साम्य है कि सिवाय पद्यबद्ध न होने के,लल्लूलाल जी का 'पावस' लाल कवि के 'पावस' का जुड़वाँ भाई ज्ञात होता है। एक पद्य है, तो दूसरा गद्य, किन्तु हैं होनों एक ही।

इसीलिए इनकी भिन्नता पर अधिक ध्यान न देकर इनकी एकता पर ध्यान देना चाहिए। पद्य का उपयोग अधिक इससे हुआ कि उसे कंठस्थ सरलता से किया जा सकता है। संस्कृत-साहित्य में व्याकरण के ग्रन्थ भी पद्य में मिलते हैं। वैद्यक ग्रन्थ भी पद्य में मिलते हैं। नाटकों में भी पद्य मिलता है। यह सब केवल इसलिए किया गया कि स्मृति को अधिक परिश्रम न करना पड़े।

इन दो में से कौन पहले हुआ, यह जानना भी आवश्यक है।

पद्य पहले हुआ, गद्य बाद को। इसका तर्क इस प्रकार है। मनुष्य के सामूहिक श्रम के समय उसके कंठ से ध्वनि निकली। यह ध्वनि उसके शारीरिक अवयवों की

एकमात्र दोलन-क्रिया थी। पहले तो यह ध्वनि संगीत के रूप में ही रही, किन्तु बाद को भाषात्मकता के आ जाने पर यह संगीत पद्य में परिवर्तित हो गया। यही कारण है कि समस्त साहित्य का अधिकांश अंश पद्य-बद्ध है। गद्य का जन्म बहुत बाद का है। हिन्दी में पद्य का जन्म-काल चन्दबरदाई के समय का है और इससे भी बहुत पहले का। किन्तु गद्य का जन्मकाल विक्रमीय संवत् 1407 के लगभग माना गया है। इस समय का गद्य ब्रजभाषा में है। गोरखनाथ का 'सिष्ट-प्रमाण' इसी ब्रज में है।

सद्गुरुशरण अवस्थी ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी-गद्य-गाथा' में पद्य की प्राचीनता की सिद्धि में इसप्रकार अपने विचार व्यक्त किये हैं :-

'यह इसलिए नहीं कि मनुष्य पर संगीत का प्रभाव बहुत पुराना है और संगीत का अनुशासन मानना सभ्यता का चिह्न है। इसका कारण यही है कि प्रत्येक देश के साहित्य के आदि युग में मनुष्य गद्य-प्रधान युग की अपेक्षा कम सभ्य थे। भावमय, रागमय, भड्-भड्-मय परिस्थिति में हुए व्यक्ति अनिवार्य रूप से पद्यमय होते होंगे।.....'

[पृष्ठ संख्या 3]

'99 प्रतिशत भाव-प्रधान लोगों के लिए गद्य का लिखना नीरस, अनाकर्षक और सारहीन था। यदि उनसे बन पड़ता, तो गद्य में बोलते भी नहीं। उस समय की बोलियों के प्रमाण कम मिलते हैं। बहुत संभव है कि थोड़ा टेढ़ापन उनमें भी हो। बोली में भी पद्यमय-प्रयोग के लोग कैसे उत्सुक थे, इसके कुछ उदाहरण नाटकों में मिल सकते हैं। बोलने के स्थान में पात्र गाते हैं।'

[पृष्ठ संख्या 4]

'इसके कुछ प्राकृतिक कारण भी हैं। समाज-शास्त्र और सभ्यता का इतिहास इस बात का द्योतक है कि आदिकाल में, जब मनुष्य ने कोई उल्लेखनीय सामाजिक दृढ़ता न अंगीकार की थी, हमारी आवश्यकताएँ न्यून थीं। जीवन एक संघर्ष न था और तब सन्तोष सहज-प्राप्त था। तत्त्वचिन्तन के स्थान पर आत्मगत-भावोद्वेगों के नैसर्गिक अभिव्यंजन में ही सुख की उपलब्धि थी तथा ज्ञान का भण्डार परिमित था। साहित्य का प्राथमिक स्वरूप ऐसी स्थित में व्यंजनात्मक हुआ। उसमें विश्लेषण अथवा आलोचना का कोई अंश न होने से भाषा का आरम्भ अधिकतर कविता में होता है।'

[पृष्ठ संख्या 10]

अवस्थी जी का यह कहना कि असभ्यता के युग में कविता अथवा पद्य का होना अनिवार्य है, बिल्कुल अवैज्ञानिक कथन है। असभ्यता और पद्य से वास्तव में कोई सम्बन्ध नहीं है। पद्य के प्रथम होने का कारण है मनुष्य का श्रम के समय, स्वर की लहरी का प्रकट करना। वही स्वर-लहरी क्रमशः शुद्ध संगीत से बिछुड़कर अधिक भाषात्मक होने पर पद्य का रूप ले लेती है। यह शरीरशास्त्र से प्रमाणित होता है। साथ ही असभ्य देशों में अब भी यह देखा जाता है कि काम करते समय मनुष्य गाते हैं।

यही अस्फुट गाना जब अधिक व्यंजनात्मक (भाषात्मक) हो जाता है, तब पद्य हो जाता है, जो लोक-गीत के रूपों में अब भी सुरक्षित है।

अवस्थी जी का यह कहना भी कि गद्य नीरस होता है और 99 प्रतिशत आदमी भावुक होते हैं, इसलिए पद्य में ही भाव व्यक्त करते हैं, न्यायोचित नहीं जान पड़ता।

तीसरी बात भी जो अवस्थीजी ने कही है, बिल्कुल बेकार कही है। वह कहते हैं कि आदिकाल में मनुष्य का जीवन एक संघर्ष न था और उसे संतोष सहज प्राप्त था। इसलिए वह भावुक था और पद्यमय था, और पद्य को ही अपनाये था। किन्तु यह इतिहास के विरुद्ध है। इतिहास तो बताता है कि आदिकाल में मनुष्य का जीवन अत्यन्त संघर्षमय था। उस समय वह पशुओं से लड़ता था। जंगलों को काटता था। भूमि को जोतने योग्य बनाने में संलग्न था। गृह आदि के निर्माण की ओर उसे प्रयास करना पड़ता था। यह सब संघर्ष नहीं है तो क्या है? इसलिए पद्य के पूर्व-प्रवेश की उनकी भूमिका ही ढह जाती है।

वास्तव में पद्य का जन्म संगीत से है और उस समय के संगीत से है, जब मनुष्य का जीवन आदिकाल में संघर्षमय था। तब वह परिश्रम करते समय संगीत उत्पन्न करता था और अधिक विकसित होने पर अर्थात् शब्दों की पर्याप्त तालिका बना लेने पर अपने उस संगीत को उन शब्दों द्वारा पद्य के रूप में व्यक्त कर देता था। यही एक वैज्ञानिक कारण है पद्य के पूर्व-प्रवेश का। दूसरा कोई कारण नहीं है।

गद्य से पहले मिलने के कारण पद्य में ही सर्वप्रथम मनुष्य ने अपनी मानसिक प्रक्रिया को व्यक्त किया। पद्य का पहला रूप कैसा रहा होगा, यह कह सकना नितान्त असम्भव है। उनके कितने चरण थे? वह कितनी मात्राओं का था? वह सिर्फ वर्णिक छंद में था अथवा मात्रिक में? इन प्रश्नों का उत्तर देना कठिन अवश्य है।

यह निश्चित है कि प्रथम पद्य मौखिक रूप में ही रहा है। और पद्य तब तक इसी रूप में रहा, जबतक कि मनुष्य ने लिपि का आविष्कार करके उसका प्रयोग नहीं सीख लिया। एक लम्बे अरसे तक कवि लोग श्रोताओं के समूह में अपना पद्यबद्ध अनुभव सुनाते रहे हैं और श्रोताओं के साथ-साथ स्वयं भी भावोद्रेक का अनुभव करते रहे हैं। अनुमान यह किया जाता है कि तब पद्य में उन्हीं शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ होगा, जो सुनने में प्रभावोत्पादक रहे होंगे और उन्हीं घटनाओं का भी विशेष वर्णन रहा होगा, जो श्रोताओं को विशेष प्रिय रही होंगी अथवा उन घटनाओं का वर्णन कवि करते रहे होंगे, जिन घटनाओं से उस काल के जनसमुदाय का जीवन विशेषकर प्रतिबिम्बित होता रहा होगा। यही नहीं, तब पद्य किन्हीं-किन्हीं विशेष व्यक्तियों की सम्पत्ति रहा होगा। तब मनुष्य उसी प्रकार पद्य का उत्तराधिकारी बनता रहा है। तब कवि को अपना काव्य-धर्म पालन करने में ही वही अनुभव सहायक होता था, जो उसे उत्तराधिकार में मिलता था और जिसे वह स्वयं अपने सतत प्रयास से, अधिक उपयोगी बना लेता था। वह अन्य व्यक्तियों से अलग एक विशेष व्यक्ति समझा जाता था, जो देवता की कृपा से

पद्यमय वाणी में भाव प्रकट कर सकने की क्षमता रखता था और जिसे भावोत्तेजन के समय ही पद्य कहने का अभ्यास होता था।

जितना भी लिखित पद्य-साहित्य प्राप्त होता है, उतने से ज्ञात होता है कि मनुष्य ने पहले-पहल पद्य में सूरज, चाँद, बादल, पहाड़, नदी, पवन, अग्नि और ईश्वर की उपासना का पद्य लिखा है।

कालान्तर में पद्य ने इतने अधिक रूप ग्रहण किये कि बहुत से छंदबन गये। छन्द-शास्त्र ही पद्य की सबसे बड़ी देन है।

गद्य बाद को आया, इससे उसमें पद्य की साहित्य-सामग्री नहीं मिलती। गद्य में चिट्ठी-पत्री मिलती है; टीका-टिप्पणी मिलती है; अनुवाद मिलते हैं; वार्ताएँ मिलती हैं; कहानियाँ मिलती हैं और बाद को लेख मिलते हैं; विज्ञान मिलता है; दर्शन मिलता है और मानव-ज्ञान की विशद शाखाओं के विशेष विषयों का प्रतिपादन मिलता है।

जिसप्रकार पद्य की सबसे बड़ी देन छंदशास्त्र है, उसप्रकार गद्य की सबसे बड़ी देन व्याकरणशास्त्र है। यह सच है कि पद्य में भी व्याकरण के नियमों का पूर्ण ध्यान रखा जाता है, किन्तु उसमें छंद के नियमों का विशेष प्रतिपालन होता है और वही प्रतिपालन पद्य की विशेषता होती है।

अब कविता को लीजिये। इसकी उपर्युक्त परिभाषा से ज्ञात होता है कि वह पद्य होती है और मनोविकारों पर प्रभाव डालने वाली होती है।

इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक कविता का पद्य ही में होना आवश्यक है, यह गद्य में नहीं हो सकती। पर पद्य भी कैसा?—'जो मनोविकारों को उत्तेजित करे। इसलिए कविता किसी भी तरह से गद्य का उलटा है' यह नहीं कहा जा सकता। मनोविकारों को उत्तेजित करनेवाली बात ही कविता की कसौटी और पहचान है। जिस कविता से मनोविकारों पर प्रभाव नहीं पड़ता, वह पद्य है और उसके उलट देने से यह गद्य का रूप पा लेगी। फलतः प्रत्येक कविता पद्य हो सकती है; किन्तु प्रत्येक पद्य कविता नहीं हो सकता; यही नहीं, कविता कभी भी गद्य में नहीं हो सकती। यदि गद्य से भी मनोविकारों पर प्रभाव पड़े, तो भी वह गद्य कविता की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता; क्योंकि वह पिंगल के नियमों से शासित है।

कविता की उक्त परिभाषा निस्सन्देह बहुत माननीय है और अबतक मानी भी जाती है। किन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद से हिन्दी में ऐसी कविताएँ भी लिखी जाने लगी हैं, जो पिंगल के नियमानुसार नहीं रची होतीं। और अब तो यह देखने में आता है कि कविता का पद्यमय रूप तो मिट-सा रहा है और वह गद्य के बिल्कुल पास आ गयी है और गद्य की तरह छपने लगी है। प्रश्न यह है कि इन्हें कहाँ-कैसा स्थान दिया जाये? पारिभाषिक दृष्टि से तो ये कविता की श्रेणी में नहीं आ सकतीं। तो क्या इनको साहित्य से—कविता के क्षेत्र से—निकाल दिया जाये। अथवा इन्हें पारिभाषिक कविताओं की मंडली में ही संस्थापित कर दिया जाये?

वास्तव में इन प्रश्नों के उत्तर आसानी से नहीं दिये जा सकते। लोग तो ऐसी सरलता से उत्तर दे देते हैं, जैसे कोई बात ही नहीं है। लेकिन इतनी आसानी से काम नहीं चलेगा। इसलिए उत्तर देने के पूर्व उन परिस्थितियों पर विचार करना होगा, जिन्होंने ऐसी समस्याएँ पैदा की हैं।

सन् 1903 से लेकर सन् 1918 तक द्विवेदी-युग माना जाता है। इस युग में समस्या न थी। तब हिन्दी में केवल यह आग्रह ही काम कर रहा था कि अत्यधिक प्रयुक्त होनेवाले छंदों में कविता नहीं लिखी जानी चाहिए। नवीन छंदों में होनी चाहिए। मात्रिक ही नहीं, वार्णिक छंदों को भी काम में लाया जाये। तुकान्तहीन छंद प्रयुक्त हों और पदान्त में विराम-चिह्न रहित शब्दों के प्रयोग भी हों।

दूसरे शब्दों में द्विवेदी-युग में वहीं तक कविता का पद्यमय रूप बदला जा सका, जहाँ तक वह पिंगल के नियमों के अनुसार बदला जा सकता था। द्विवेदी-युग मर्यादावाद और सुधारवाद का युग था। इसलिए इस युग में इससे अधिक बढ़ सकने की संभावना न थी।

सन् 1918 के बाद छायावाद और रहस्यवाद का युग आता है। इसमें परम्परा से पूर्ण मुक्ति दिखायी पड़ती है। छंदों के मामले में भी कवि द्विवेदी-युग से आगे बढ़े। मर्यादा टूट चली। निराला और प्रसाद ने मुक्त-छंदअपनाया और पिंगल के नियमों का पूरा-पूरा अतिक्रमण करते रहे। यह क्रम पहले कम-कम रहा, किन्तु बाद को सन् 1946 के समाप्त होते-होते तक यह क्रम उग्र रूप धारण करके प्रकट हुआ।

इस अतिक्रमण का कारण यह है कि हिन्दी के कवियों ने विदेशी मुक्त-छंद का प्रभाव देख लिया था और साथ ही यह भी देख लिया था कि उसमें पूर्ण स्वच्छन्दता रहती है—चाहे जो भाव जैसे व्यक्त किया जाये। फिर अंग्रेजी पढ़ा-लिखा काव्य-प्रेमी समाज भी बन गया था, जो प्राचीन छन्दों से असंतुष्ट था और नये मुक्त छंद के लिए लालायित था।

मुक्त-छंद लिखा तो जाने लगा; किन्तु उसमें भी तुकान्त रखा जाने लगा। उसमें भी पद्य का प्रवाह तथा शब्द-संगठन सुरक्षित ही रहा। उस समय ..... छायावादी-युग में सुन्दर नये शब्दों के ग्रहण करने की ओर अधिक ध्यान आकृष्ट होता रहा। इन्हीं नये शब्दों से कवियों ने तब विद्रोह बोया। उनका ध्यान इस ओर तब छायावादी युग में नहीं गया कि वह पद्य को गद्यमय कर दें अथवा कविता को गद्य का रूप दे डालें। यही कारण है कि तब की सब कविताओं में गद्यात्मकता का अभाव मिलता है। कवियों के अतिक्रमण करने पर भी पद्यात्मकता ही मिलती है।

तब पद्यात्मकता से पीछा छूट ही नहीं सकता था; वह इसलिए कि तब तक कवियों का दृष्टिकोण भौतिक हुआ ही न था। वह यथार्थ की ओर पूरे झुके ही न थे। फिर भला वह कविता में गद्य का समावेश क्या करते?

छायावाद के बाद यथार्थवाद और प्रगतिवाद आया, तब कवि की दृष्टि आसमान से उतर कर भौतिक जगत् में आयी और आर्थिक धरातल का कठोर स्पर्श मिला। मनुष्य की भूख ने, मनुष्य पर मनुष्य के शासन के अत्याचारों और शोषण की विभीषिका ने उसे सक्षम बनाया कि वह मुक्त-छंद में जनता की बात व्यक्त करे। इस हेतु कविता की पूर्व परिभाषा अब संकुचित हो गयी और कविता में गद्य-कविता भी आ गयी।

इस गद्य-कविता को कविता न कहना कविता के विकास को न मानने के समान होगा। अब तो परिस्थितियों से प्रेरित होकर कविता ने अपना पद्यात्मक जामा उतार डाला है और गद्य का साधारण सरल जामा धारण कर लिया है। जबतक परिस्थितियाँ कविता को पद्य में ही व्यक्त होने को बाध्य करती रहीं, तबतक वह पद्य में ही व्यक्त हुईं, निःसृत हुई, किन्तु अब परिस्थितियाँ ऐसी हैं, जो उसे पद्य से मुक्ति दे रही हैं और वह इस मुक्ति को अपना रही है।

किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कविता कुछ दिन में रह ही न जायेगी। केवल गद्य ही रह जायेगी। ऐसा कदापि नहीं हो सकता। वास्तव में कविता और गद्य में विरोध नहीं है। विरोध तो है विज्ञान से और कविता से। इसलिए वह गद्य, जिसमें अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का विवेचन हो, जिसमें दर्शनशास्त्र का विवेचन हो, जिसमें समाज-शास्त्र का, प्राणिशास्त्र का, भौतिक शास्त्र का, रसायन शास्त्र का, ज्योतिष शास्त्र का, नीतिशास्त्र का, मनोविज्ञान का, और इसी प्रकार के अन्यान्य शास्त्रों का प्रतिपादन हो, कविता की श्रेणी में नहीं आ सकता। कविता तो वस्तु-जगत् की मानसिक प्रक्रिया है, जो किसी अर्थशास्त्री के मन में हो सकती है; किसी दार्शनिक के मन में हो सकती है, किसी रसायनिक के हृदय में हो सकती है; किसी प्राणिशास्त्री के हृदय में हो सकती है और समाजशास्त्री के मन में हो सकती है। वह गद्य में है तो कविता कहलायेगी। वह पद्य में है तो कविता कहलायेगी। माल्थ्यूस का सिद्धान्त अथवा रिकार्डो का सिद्धान्त या कि कौटिल्य का अर्थशास्त्र चाहे पद्य ही में क्यों न लिख दिया जाय, वह कविता नहीं कहलायेगा। इसी तरह हेगेल और नीत्से के दार्शनिक विचार भी कविता का पद नहीं पा सकते।

आगामी कल में जो गद्य ज्ञान के विषय के निरूपण और प्रतिपादन में और लोक-व्यवहार के कार्य-कलाप में प्रयुक्त होगा, उसी का विरोध कविता से होगा। शेष गद्य कविता की श्रेणी में आ जायेगा। किन्तु इससे यह तात्पर्य नहीं है कि कविता और कहानी में या निबन्ध अथवा वार्ता में कोई अन्तर नहीं रहेगा। इन सबसे भी विलग कविता होगी।

❑

प्रेरणा और कविता

कहा जाता है कि ईश्वर की प्रेरणा से काव्य-सृष्टि होती है।

यह बात आज की नहीं है, हमारे पूर्वजों की है। यह विश्वास उनका था कि प्रभु की कृपा से ही काव्य की प्राप्ति होती है।

साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि गणेश जी गणनायक माने गये हैं। सरस्वती जी वाणी की देवी मानी गयी है। कवि उनकी उपासना करते हैं, उनकी कृपा से कविता करते हैं।

पहला तो वन्दना का रूप है, जो काव्य के आरम्भ में एक या अनेक छंदों में मिलता है। स्तुति से देवी अथवा देवता की प्रशंसा की जाती है कि वह काव्य करने में सिद्धि दें। स्तवन की यह परिपाटी संस्कृत से हिन्दी में आयी है। संस्कृत के काव्य-ग्रन्थों का प्रारम्भ ही स्तवन से होता है। नाटकों तक में यह बात देखी जाती है। प्रथम नांदी-पाठ होता है, जिसमें कल्याण की कामना की जाती है। हिन्दी में स्तवन की इस परम्परा का पूरा पालन किया गया है। उस समय का शायद ही कोई काव्य-ग्रन्थ हो, जिसमें प्रभु-वन्दना न हो। इसका परिणाम यह हुआ है कि हिन्दी में एक बहुत ही विशिष्ट देव-वन्दना का साहित्य तैयार हो गया है। कवियों ने इसमें इतनी अधिक कुशलता दिखायीहै कि अचरज होता है। सम्भवत: उनका विश्वास था कि स्तवन के छंद के उत्तम होने से समस्त काव्य भी उसी कोटि का होता है।

दूसरा रूप है ईश्वर के चरित्र के गुणगान का, जो समस्त काव्य का विस्तृत विषय बन जाता है। प्रभु की साधना काव्य की साधना का रूप ले लेती है। सूरदास की कविता इसका प्रमाण है। कृष्ण का पूरा बचपन कवि ने काव्यांकित किया है, युवावस्था का वर्णन किया है; उनके प्रेम और विरह को प्रकाशित किया है और कल्याण-कार्यों की कथाएँ कही है। तुलसीदास राम काव्य के अगुआ हैं। रामायण इसका सर्वोत्तम प्रमाण है। सात कांडों में राम की कथा ने काव्य की समस्त भूमि घेर ली है।

काव्य में ईश्वरीय प्रेरणा की अभिव्यक्ति का इतिहास भक्तिकाल से प्राप्त हुआ है।

विद्यापति प्रथम वैष्णव कवि हैं। इनकी कविताएँ कृष्ण और राधा के प्रेम की सजीव प्रतिमाएँ हैं। संयोग-शृंगार की अनुभूति तीव्र वासना के रंगों में व्यक्त हुई है। मैथिली भाषा का उद्दाम उल्लास निस्संदेह पावन प्रेम के रूप में नि:सृत हुआ है, किन्तु उसमें मानवीय हृदय की सरसता, व्याकुलता, विह्वलता और प्रणय का अन्ध-गन्ध-पूर्ण

वसन्त ही विकसित हुआ है। यदि इन रचनाओं से 'माधव' अथवा 'राधा' के नाम निकाल दिये जायें, तो ये पूरी तरह नर-काव्य की श्रेणी में आ जाती हैं। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :–

(1)

शैशव यौवन दुहुँ मिलि गेल,
श्रवणक पथ दुहुँ लोचन लेल।
वचनक चातुरि लहु-लहु हास,
धरणिय चाँद करत परकास।
मुकुर लेइ अब करत सिंगार;
सखिरे पूछइ कइसे सुरत-बिहार।
निरजन उरज हेरइ कत बेरि;
हासत अपन पयोधर हेरि।
पहिल बदरि सम पुन नवरङ्ग;
दिने दिने अनंग अगोरल अङ्ग।
माधव पेखल अपरुप बाला;
शैशव यौवन दुहु एक मेला।
विद्यापति कह तुहु अगेयानि;
दुहु एक योग इहके कह सयानि।

(2)

शैशव यौवन दरशन मेल;
दुहु दलबले दन्द परि गेल।
कबहु बांधय कच कबहु बिथारि;
कबहु झांपय अङ्ग कबहु उघारि।
अति थिर नयन अथिर किछु भेल;
उरज उदय थल लालिम देल।
चंचल चरन चित्त चंचल मान,
जागल मनसिज मुदित नयान।
विद्यापति कह सुन बर कान;
धैरज धरह मिलायब आन।

(3)

ए सखि पेखुन अपरूप;
सुनइते मानवी सपन स्वरूप।
कमल युगल पर चाँद की माल;
तापर उपजल तरुण तमाल।
तापर बेढल बिजुरी-लता;
कालिंदी-तीर धरि चलि जता।
शाखा-शिखर सुधाकर पाँति;
ताहे नव पल्लव अरुणक भाँति।
विमल बिंबफल युगल विकास;
तापर कीर भीर करु बास।
तापर चंचल खंजन जोड़,
तापर साँपिनी बेड़ल भोड़।
ए सखि रंगिनि कहइ निदान;
पुनि हेरइते काहे हरल गेयान।
भनय विद्यापति इह रस भान;
सुपुरुष मरम तुहूँ भल जान।

(4)

सुन्दरि चललि पहु-घर ना;
चहुँ दिसि सखि-सब कर गह ना।
जाइतहि हार टूटिए गेल;
भूषण बसन मलिन सब भेल।
भनइ विद्यापति गावल लो,
दुख सहि-सहि सुख पावल लो।

नव अनुरागिनी राधा; कछु नहिं मानय बाधा।
एकलि कयल पयान; पथ विपथहु नहिं मान।
तेजल मनिमय हार; उच कुच मानय भार।
कर संग कंकन-मुदरी; पथहि ते जलसगरी।
मनिमय मंजरि पाँय; दूरहि तजि चलि जाय।
यामिनि घन अँधियार; मन्मथ हेरि उजियार।
विघन बियारित बाट; प्रेमक आयुध काट।
विद्यापति मति जान; अइस न हेरिय आन।

उपर्युक्त उद्धरण इस बात के प्रमाण हैं कि मानव-प्रेम और वासना ही ईश्वरीय प्रेरणा के काव्य में व्यक्त हुए हैं। विद्यापति के बाद ज्ञानाश्रयी शाखा के कवि आये। उनमें कबीरदास प्रमुख हैं। इन्होंने निर्गुण ब्रह्म की उपासना का प्रचार किया। यद्यपि ये अपने समय की सामाजिक परिस्थितियों से बहुत ही प्रेरित हो रहे थे, फिर भी इनकी प्रतिभा 'ब्रह्म' का परित्याग न कर सकी। इनकी रचनाओं में 'ब्रह्म' का गुणगान भी है और उस काल की सामाजिक प्रक्रिया भी है। उनकी कविता का एक उद्धरण इस प्रकार है :–

जब हम एको एकु करि जानिआ।
सब लोगह काहे दुखु मानिआ।।
हम अपहत अपनी पति खोई।
हमरे खोजि परहु मति कोई ॥ 1॥
हस मंदे मंदे मन माही।
साझ पाति काहू सिउ नाहीं॥ 2॥
पति अपति ताकी नहीं लाज।
तब जानहुगे जब उघरैगो पाज॥ 3॥
कहु कबीर पति हरि परवानु।
सरब तिआगि भुज केवल रामु॥ 4॥

[संत कबीर (संक्षिप्त) संग्रहकार–रामकुमार वर्मा; पृष्ठ संख्या 3-4]

कबीर के प्रेम में वासना-जन्य भावुकता, कोमलता, सरसता और मादकता नहीं है। लेकिन उन्होंने भी स्थान-स्थान पर उसी अभिव्यंजना का सहारा लिया है, जिसका सहारा प्रेममार्गी कवि लेते देखे जाते हैं। हाँ, अन्तर यह है कि कबीर हाव-भाव और रस की सृष्टि नहीं करते और ज्ञान की बात करने लगते हैं। इसी से उनके काव्य में तथाकथित काव्य के गुण खोजने पर भी नहीं मिलते। एक उदाहरण नीचे दिया जाता है :–

पंथ निहारै कामिनी लोचन भरी लै उसासा।
उर न भीजै पगु ना खिसै हरि दरसन की आसा।।
उड़हु न कागा कारे।
बेगि मिलीजै अपुने राम पियार ॥ 1॥
कहि कबीर जीवन पदकारनि हरि की भगति करीजै।
एकु अधारु नाम नाराइन रसना रामु रवीजै॥ 2॥

[संत कबीर : वही पुस्तक, पृष्ठ संख्या 20]

कबीर ने स्तवन की परिपाटी को स्तवन के कुछ छंदों में व्यक्त नहीं किया, वरन्

वह स्फुट पदों और साखियों द्वारा 'ब्रह्म' का निरूपण ही करते रहे। जो स्तवन केवल प्रारम्भिक छंदों में काव्य-पुस्तक के आदि में रहता था, वह एक नये रूप में कबीर में व्यक्त हुआ—अपनी सीमा और अपना उद्देश्य त्यागकर। सूरदास और मीरा दोनों प्रेममार्गी थे; इससे उनकी रचनाओं से वही स्वर सुनाई पड़ता है, जो विद्यापति की रचनाओं से सुनाई दिया था। सूरदास के कुछ पद नीचे दिये जाते हैं :—

(1)

बिनु गोपाल बैरन भई कुंजैं।
तब ये लता लगति सीतल
अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं॥
वृथा बहति जमुना, खग बोलत,
वृथा कमल फूलै अलि गुंजैं।
पवन, पानि, घनसार, सजीवनि
दधिसुत किरन भानु भईं भुंजैं॥
ये ऊधो कहियो माधव सो
विरह करद कर मारत लुंजैं।
'सूरदास' प्रभु को मग जोवत
अँखियाँ भई बरन ज्यों गुंजैं।

(2)

अंखियाँ हरि दरसन को प्यासी।
देख्यो चाहत कमलनैन को निसिदिन रहत उदासी॥
आये ऊधो फिरि गये आँगन डारि गये गर फाँसी।
केसरि को तिलक मोतिन की माला वृन्दावन को वासी॥
काहू के मन की कोउ न जानत लोगन के मन हाँसी।
'सूरदास' प्रभु तुमरे दरसन को जाइ करवट ल्यों कासी॥

(3)

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।
प्रीति पतंग करी दीपक सों आपै प्राण दह्यो।
अलिसुत प्रीति करी जलसुत सों सम्पति हाथ गह्यो।
सारंग प्रीति करी जो नाद सों सन्मुख बाण सह्यो॥
हम जो प्रीति करी माधव सों चलत न कछू कह्यो।
'सूरदास' प्रभु बिन दुख दूनो नैनन नीर बह्यो॥

(4)

अद्‌भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त॥
तापर सिंह करत अनुराग।
हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर,
गिरि पर फूले कंज पराग॥
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर
ताहू पर अमृत फल लाग॥
फल पर पुहुप, पुहुप पर पालव,
तापर सुक, पिक, मृगमद, काग॥
खंजन धनुष चन्द्रमा ऊपर
ता ऊपर एक मनिधर नाग॥
अंग-अंग प्रति और और छवि
उपमा ताको करत न त्याग॥
'सूरदास' प्रभु पियहु सुधारस
मानहु अधरन को बढ़ भाग॥

अब मीरा को लीजिये। इनके कृष्ण-प्रेम की तीव्रता मानव-प्रेम की तीव्रता से किसी क़दर कम नहीं है। ईश्वरीय प्रेम को मानवीय प्रेम-वासना के साँचे में ढालने का अत्यन्त सफल उदाहरण इनकी कविता में मिलता है। विद्यापति की कविता और मीरा की कविता में अत्यधिक उद्‌दाम वासना का साम्य है। विद्यापति के उद्धरण दिये जा चुके हैं। अब मीरा के उद्धरण देखिये :—

(1)

मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई।
दूसरा न कोई साधो सकल लोक जोई॥
भाई छोड्‌या बंधु छोड्‌या छोड्‌या सगा सोई।
साधु संग बैठ-बैठ लोक लाज खोई॥
भगत देख राजी भई जगत् देख रोई।
अंसुवन जल सींच-सींच प्रेम बेल बोई॥
दधि मथ घृत काढ़ लिया डारि दई छोई।
राणा विष को प्यालो भेज्यो पीय मगन होई॥
अब तो बात फैल गयी जाणों सब कोई।
'मीरा' राम लगण लागी होणी होय सो होई॥

(2)

घड़ी एक नहिं आबड़े, तुम दरसन बिन मोय।
तुमहीं मेरे प्राण जो, कासूँ जीविण होय॥
धान न भावै नींद न आवै, विरह सतावै मोय।
घायल सी धूमत फिरूँ रे, मेरा दरद न जानै कोय॥
दिवस सो खाय गँवायो रे, रैण गमाई सोय।
प्राण गमायो झूरताँ रे, नैनगमाई रोय॥
जो मैं ऐसा जानती रे, प्रीति किये दुख होय।
नगर ढिंढोरा पीटती, प्रीति करो जनि कोय॥
पंथ निहारूँ डगर बुहारूँ, डूबी मारग जोय।
मीरा के प्रभु कबरे मिलोगे, तुम मिलियाँ सुख होय॥

विद्यापति, सूरदास, कबीर और मीरा के अतिरिक्त अन्यान्य कवि भी हुए जिन्होंने लगभग उसी रंग में कविताएँ कीं। यह परम्परा बीसवीं सदी तक आयी है। रीतिकालीन कवियों ने भी राधा और कृष्ण को लेकर मनचाही होली खेली है। पद्माकर कवि का उद्धरण देखिये :–

चन्द्रकला चुनि चूनरी चारु दई
पहराय लगाय सुरोरी।
बेनी विशाखा रची पद्माकर
अजनि साजि संवारि कै मोरी॥
लागी जबै ललिता पहिरावन।
कान्ह को कंचुकी केसर बोरी।
हेरि हरैं मुसकाय रही अंचरा
मुख दै वृषभानु किसोरी॥

इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि कवि कहाँ से चले और कहाँ पहुँच गये।

बीसवीं सदी में सबसे प्रसिद्ध रत्नाकर जी हुए हैं। 'उद्धव शतक' में उन्होंने विरहिणी गोपियों के सहारे अत्यन्त मधुर मानवीय प्रेम की मनोदशाओं का ही चित्रण किया है।

जायसी का 'पद्मावत' एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। तुलसी ने रामचरित्र कहा; लेकिन स्पष्ट शब्दों में राम को भगवान प्रतिपादित करके ही। किन्तु इनसे पहले जायसी ने जब अलौकिक प्रेम की बात कही, तब उसे रत्नसेन और पद्मावती की कथा का सहारा लेना ही पड़ा। जायसी का यह काव्य नर और नारायण दोनों का काव्य है। नर का तमाम

वर्णन है; नारायण की ओर इशारा है। श्यामसुन्दरदास जी ने अपने 'हिन्दी भाषा और साहित्य' के इतिहास में पद्मावत के बारे में यों लिखा है :–

''उसमें उद्यपि चित्तौर के अधिपति रत्नसेन और सिंहल द्वीप की राजकन्या पद्मावती की कथा कही गयी है, परन्तु जायसी ने एक स्थान पर स्पष्ट कह दिया है कि उनकी यह कथा तो रूपकमात्र है, वास्तव में वे उस ईश्वरीय प्रेम की अभिव्यक्ति कर रहे हैं, जो प्रत्येक साधक के हृदय में उत्पन्न होती है और उसे ईश्वर-प्राप्ति की ओर प्रवृत्त करती है। यही नहीं, जायसी ने तो अपने रूपक को और भी खोल दिया है और अपनी कथा को विविध प्रसंगों तथा पात्रों को ईश्वर-प्रेम के विविध अवयवों का व्यंजक बतलाया है।''

[प्रथम संस्करण : पृष्ठ संख्या 358]

निस्सन्देह जायसी ईश्वर से उतरकर मनुष्य तक आ गये थे, लेकिन उनका ईश्वर का मोह नहीं छूटा था। इस हेतु मनुष्य के काव्य में उन्होंने ईश्वर के रूपक को व्यंजित किया। तुलसीदास यह पवित्र-अपवित्र का मेल-मिलाप नहीं कर सके। उन्होंने राम को भगवान के रूप में वर्णित तो किया, किन्तु उनके लौकिक चरित्र के महत्त्व को ही विशद रूप से व्यक्त किया। तुलसी ने राम को राम रखा, नर नहीं बनाया। उन्होंने राम को लौकिक जीवन का चरित्र-नायक स्थापित किया। इस तरह तुलसी के राम कृष्ण वाली छीछालेदर से बच गये। यदि तुलसी ऐसा न करते, तो शायद राम भी रीतिकालीन कवियों के हाथों में पड़कर नष्ट हो जाते। यह सही है कि रामकथा में वे बीज ही नहीं थे, जो कृष्ण-कथा में कवियों को मिले थे। फिर भी कवि राम और सीता की प्रेम-कथा ही ऐसी बना लेते, जिसमें विद्यापति की उद्दाम वासना, मीरा की प्रेम-भावना इस हद तक चित्रित होने लगती कि देखकर दु:ख होता।

जिसप्रकार कृष्ण, सूर और मीरा के बाद अपना असली रूप खो बैठे, उसी प्रकार राम भी अपना तुलसीदास वाला रूप खो बैठे! रीतिकालीन कवियों ने कृष्ण को चोली पहनायी, तो राम को केशवदास ने जीवन के धरातल से उठाकर काव्य-निरूपण के संकुचित घेरे में बन्दी कर दिया। 'रामचन्द्रिका' महाकाव्य तो है, पर वह जीवन-काव्य नहीं है। 'जीवन के राम' काव्य के राम हो गये हैं।

कृष्ण और राम को जीवन से हटाकर काव्य में ले आने का एक और परिणाम यह हुआ कि रामचरित ही स्वयं काव्य बन गया। मैथिलीशरण जी ने कहा है :–

राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है।
कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है।

हरिऔध जी ने अपना 'प्रिय-प्रवास' भी इसी भावना से लिखा था; हालाँकि उन्होंने कोई ऐसी बात नहीं कही थी। उनका काव्य-निरूपण इस बात का प्रमाण है कि उन्होंने भी इसी ध्येय से अपने काव्य की रचना की थी। यह ठीक है कि हरिऔध जी

कृष्ण को परमात्मा के रूप में नहीं दरसाते; वह अपने काव्य का श्रीगणेश किसी देवता की स्तुति से नहीं करते। किन्तु कृष्ण का मानवीय चरित्र भी उसतरह ऊपर नहीं उभरता, जिसतरह तुलसी के राम का। वास्तव में हरिऔध जी बीसवीं सदी के केशवदास हैं, जबकि भाषा..... ब्रजभाषा से बदलकर... प्रचलित खड़ीबोली हो गयी है और यह प्रवृति हो गयी है कि राम को मनुष्य माना जाय। 'प्रिय-प्रवास' बीसवीं सदी की 'रामचंद्रिका' है, जिसे काव्य के लक्षण ग्रन्थ की परिपाटी में लिखा गया है, जीवन की परिपाटी में नहीं।

यह तो हुई ईश्वरीय प्रेरणा सम्बन्धी साहित्यिक सामग्री, जिसका ऊपर विवेचन किया गया है।

अब यह विचार करना है कि काव्य ईश्वर की प्रेरणा का फल क्यों समझा गया?

हिन्दी में ईश्वरीय प्रेरणा की यह गूँज संस्कृत से आयी है। इसलिए हिन्दी के युग से पहले का विवेचन करना पड़ेगा। उस काल में चलिए, जब आदमी ने जमीन जोतना प्रारम्भ किया। तब वह यह नहीं समझता था कि भूमि का मालिक वह है या कोई दूसरा व्यक्ति। वह यह भी नहीं समझता था कि उसके श्रम के कारण धरती अन्न उपजाती है। उसकी भावना यह थी कि ईश्वर ही धरती का मालिक है और वही अन्न उपजाता है। इसलिए उत्पत्ति का सारा श्रेय मनुष्य ने ईश्वर को देकर उसकी वंदना शुरू की। धीरे-धीरे कालक्रम में जब मनुष्य लिखने-पढ़नेवाला हो गया और वह कविता भी करने लगा, तब उसने कविता का आरम्भ भी, ईश्वर वंदना से किया। यही प्रभुस्तवन कालान्तर में विभिन्न रूपों में व्यक्त होता हुआ चला आया। मनुष्य द्वारा उत्पादन का इतिहास उसकी संस्कृति का इतिहास है; उसके समस्त काव्य का इतिहास है; और उसके विकासोन्मुख जीवन का इतिहास है।

कुछ काल बाद जब मनुष्य भूमि का मालिक बन बैठा और उसको यह अनुभव हुआ कि राजा ही भूमिपति है और उसी से उसे भूमि प्राप्त हो सकती है, तब उसने कविवाणी में राजा का गुणगान प्रारम्भ कर दिया। इसका एक मात्र कारण यही है कि तब उत्पादन पर राजा का अधिकार था और उसके बिना उत्पादन सम्भव न था। इसी काल में यह भी विचार पुष्टि पाने लगा कि राजा ईश्वर का अंश है। इसलिए राजा की बड़ाई ईश्वर की बड़ाई समझी जाने लगी। फिर भी राजा को कथा कहने के पूर्व ईश्वर के स्तवन की प्रथा प्रचलित ही रही, क्योंकि ईश्वर से मनुष्य का बहुत गहरा सम्बन्ध स्थापित हो चुका था।

और आगे चलकर जब यह युग आया कि भूमि उसकी है, तो जोते और बोये, तब कवि ने अपना काव्य जनसाधारण की रुचि का लिखना प्रारम्भ कर दिया। धरती राजा की नहीं है, ईश्वर की नहीं है, किसान की है। इस विचार-परिवर्तन का कारण सम्पूर्ण इतिहास है। जिस काल में उत्पादन के जैसे विचार थे, उस काल में वैसे विचार के काव्य की सृष्टि हुई है। इससे कोई इनकार नहीं कर सकता।

मानव-जाति का धार्मिक इतिहास, सामाजिक इतिहास, सांस्कृतिक इतिहास और साहित्यिक इतिहास उसके उत्पादन के इतिहास से ही एकता लिए हुए है। इसी से प्रारम्भ में ईश्वरीय काव्य मिलता है। वहीं कुछ छन्दों में स्तवनमात्र रह जाता है। वही जीवन-लीला के अति निकट आ जाता है। वही नर-नारायण का रूप धारण कर लेता है। वही काव्य-क्षेत्र में एक ओर रस की सृष्टि करने लगता है। बीसवीं सदी में ईश्वर भी एक व्यक्ति के रूप में चित्रित होने लगता है। जैसे-जैसे मनुष्य ईश्वर से दूर पड़ता जाता है, विज्ञान और विचार के कारण वैसे-वैसे वह ईश्वरीय प्रेरणा से हटता जाता है और अपनी ही भौतिक प्रेरणाओं की ओर खिंचता जाता है। इसका मूल कारण मनुष्य की बदली हुई उत्पत्ति की भावना है।

इसलिए इस युग में यह सर्वथा असंगत है कि काव्य की प्रेरणा ईश्वर से मिलती है।

❑

संस्कृति और परिस्थिति

आधुनिक हिन्दी-साहित्य 'आश्चर्यजनक उन्नति कर रहा है' अथवा 'ह्रास' ... इस प्रश्न से प्रेरित होकर अज्ञेय ने 'संस्कृति और परिस्थिति' शीर्षक लेख प्रारम्भ किया है।

वह कहते हैं : उत्तर देने का प्रयत्न मैं नहीं करूँगा।

पाठक को वह न 'सस्ते आशावाद' से, 'न चोट पड़ते ही बें-बें करने-वाले निराशावाद' से ही सन्तोष दिलाना चाहते हैं।

उनका कहना है: .....'मैं केवल उस खोज के प्रति वैज्ञानिक उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग रखने पर ज़ोर देना चाहता हूँ। 'उनका यह वैज्ञानिक उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग यह है कि वह साहित्य के प्रश्न को साहित्य के या साहित्यालोचन के संकुचित घेरे से निकालकर ... उसे एक संस्कृति या विभूति के रूप में दिखाना चाहते हैं। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर वह सबसे पहले समाज में संगठन की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं।

ऊपर की बात से स्पष्ट है कि अज्ञेय साहित्य के दो पहलू मानते हैं। वे निम्नांकित हैं :—

1. साहित्यिक पहलू।

2. सांस्कृतिक पहलू।

किन्तु अज्ञेय हिन्दी-साहित्य की प्रगति पर एकमात्र सांस्कृतिक पहलू से विचार करके उसकी उन्नति अथवा ह्रास का अनुसंधान करना चाहते हैं। पहले पहलू को वह स्पर्श ही नहीं करना चाहते। ऐसा करने का क्या कारण है? नहीं कहा जा सकता।

इसप्रकार अज्ञेय का अनुसंधान एकांगी ही रहता है।

सांस्कृतिक पहलू पर विचार करते समय वह सर्वप्रथम समाज को और उसके संगठन को देखते हैं। देखिये :—

साहित्य—साहित्य की शिक्षा—अन्ततोगत्वा एक स्थानापन्न महत्त्व रखती है। पुराने सामाजिक संगठन के टूटने से उसकी सजीव संस्कृति और परम्परा मिट गयी है—हमारे जीवन में से लोक गीत; लोकनृत्य, फूस के छप्पर और दस्तकारियाँ क्रमशः निकल गयी हैं और निकलती जा रही हैं और उनके साथ ही निकलती जा रही हैं। वह चीज़

जिसके ये केवल चिह्न मात्र हैं—जीवन की कला, जीने का एक व्यवस्थित ढंग, जिसके अपने रीतिव्यवहार और अपनी ऋतुचर्चा थी—ऐसी ऋतुचर्चा जिसकी बुनियाद जाति के चिर संचित अनुभव पर कायम हो।... [त्रिशंकु: पृष्ठ संख्या 14]

दूसरे शब्दों में अज्ञेय ने नीचे लिखी छ: बातें ऊपर गिनायी हैं....

1. साहित्य—साहित्य की शिक्षा-अन्ततोगत्वा एक स्थानापन्न महत्त्व रखती है।

2. पुराना सामाजिक संगठन टूट गया है और इस कारण सामाजिक संगठन की सजीव संस्कृति और परम्परा मिट गयी है।

3. वह सजीव संस्कृति और परम्परा जीवन की कला है।

4. वह जीवन की कला जीने का एक व्यवस्थित ढंग है।

5. उस व्यवस्थित ढंग से तात्पर्य है, जीवन के रीति-व्यवहार और जीवन की ऋतुचर्या से।

6. और वह जीवन की ऋतुचर्या जाति के चिर संचित अनुभव पर स्थित है।

पहली बात आपत्तिजनक नहीं है। साहित्य ने—जीवन का, उसके विकास का, उसकी संस्कृति का सदैव प्रतिनिधित्व किया है और करता चला जायगा। जब जैसा जीवन रहता है, तब तैसी उसकी गति रहती है और जब जिस परिस्थिति में जैसी उसकी संस्कृति रहती है, तब उस परिस्थिति में उसका वैसा साहित्य व्यक्त होता है। केवल इसी अर्थ में साहित्य को स्थानापन्न कहा जा सकता है और इसी में उसका महत्त्व है। न जीवन निष्किय है, न साहित्य निष्क्रिय है। जीवन की प्रगति उसकी संस्कृति की प्रगति है और संस्कृति की प्रगति उसके साहित्य की प्रगति है।

दूसरी बात अनुचित नहीं है। बाह्य परिस्थितियों के कारण-करण से मनुष्य अपने जीवन निर्वाह का नूतन तरीका खोज निकालता है; अपने पूर्ववर्ती सामाजिक बन्धनों को शिथिल करता है; नवीन उपयुक्त बन्धन बनाता है; अपने पारम्परिक सम्बन्धों को, आवश्यकतानुसार, नया रूप-आकार-प्रकार देता है। इसप्रकार नयी संस्कृति का जन्म होता है; नयी जीवन-कला का जन्म होता है और नयी साहित्यिक सृष्टि होती है। पुराने समाज का टूटना आवश्यक है। उसके संगठन का मिटना आवश्यक है। संस्कृति और परम्परा का टूटना आवश्यक है। यदि यह न हो, तो सृष्टि का नया निर्माण ही न हो; जीवन को नयी गतिविधि ही न मिले, नयी संस्कृति ही न पैदा हो; और नये वर्तमान और नये भविष्य आवें ही नहीं।

तीसरी बात सही है। यह ऊपर प्रतिपादित हो चुकी है। यह और कहना है कि दो-चार-दस वर्षों का जीवन न नवीन संस्कृति का निर्माण कर सकता है न नूतन परम्परा प्रचलित कर सकता है। फलत: इस थोड़े समय के बीच की कोई जीवन-कला नहीं हो सकती। नयी संस्कृति, नयी परम्परा, और नयी जीवन-कला—तीनों ही एक लम्बे अरसे के बाद ही ग्रहणीय होती हैं। और तब तीनों ही एक लम्बे अरसे तक जीती हैं। उनका

नाश तभी होता है, जब वह अशक्त हो जाती हैं और परिस्थितियों से मोरचा लेने और जीने में असमर्थ सिद्ध होती हैं। उसी क्षण से नयी संस्कृति और नयी जीवन-कला आरम्भ होती है और दीर्घकाल तक सँवरती—सुधरती चली जाती हैं, जब तक कि पुनः आमूल परिवर्तन की आवश्यकता नहीं उपस्थित होती। निरन्तर का यह क्रम निरन्तर तक चला जाता है। चौथी बात भी सही है। जीवन तभी कलामय होता है, जब उसमें व्यवस्था आती है। अव्यवस्थित जीवन सदैव कलाशून्य रहता है। कला का अर्थ ही है कि उसमें कुछ योजना हो, कृत्रिमता हो, अपना एक तरीका हो।

पाँचवीं बात भी सत्य है।

छठी का विवेचन तीसरी बात के क्रम में, ऊपर हो चुका है। मनुष्य के चिर संचित अनुभव ही उसकी संस्कृति और कला के आधारभूत तत्त्व हैं। उन तत्त्वों में जीवन का व्यवस्थित अंश ही रहता है—अव्यवस्थित अंश कदापि नहीं।

इन गिनी-गिनायी बातों से कोई मतभेद नहीं हो सकता।

मतभेद आरम्भ होता है तब, जब अज्ञेय आधुनिक युग को यंत्र-युग कहकर मशीन-विस्तार से प्राचीन समाज-व्यवस्था और संस्कृति के नाश का चित्र खींचते हुए वर्तमान साहित्य को आज के श्रमिक के अवकाश का साहित्य घोषित करते हैं, जो मनोरंजन के लिए ही लिखा जाता है और विज्ञापनबाजी के प्रभाव से सस्ता, घटिया और एकरस होता है।

निस्संदेह यह यंत्र-युग है। इसके ऐतिहासिक और विश्वव्यापी कारण हैं। यंत्र-युग अकस्मात् नहीं आया। वह हमारी पूर्ववर्ती परिस्थितियों, जीवन की समस्याओं, उसकी संस्कृति से जन्मा है। यदि हमारी संस्कृति—जिसका अत्यधिक रोना अज्ञेय ने स्थान-स्थान पर रोया है—परिस्थितियों को पराजित करने की क्षमता रखती, तो यंत्र-युग आता भी तो बुराइयों के साथ न आता। यंत्र-युग का आना बुरा नहीं कहा जा सकता।

जब यंत्र-युग को और उसके मशीन-विस्तार को अज्ञेय यह कहकर लांछन लगाते हैं कि उसने समाज-व्यवस्था नष्ट कर दी है, तब वह ऐतिहासिक विकास का पथ त्यागकर अनुगति पर चले जाते हैं। वह संस्कृति को अक्षुण्ण और एकरूपा मान लेते हैं—जैसा कि वह कदापि नहीं है—और यत्र-युग की मशीनों को उसका विनाशक मान लेते हैं। ऐसा मानना सर्वथा अवांछनीय है। यही नहीं, वह ऐसा भी समझ लेते हैं कि संस्कृति वर्तमान काल से पूर्व ही पूर्णतया विकस चुकी है और अब उसकी सुरक्षा का महत्त्वपूर्ण प्रश्न ही मनुष्य के सामने रह गया है। उसकी असत्यता इसी से प्रमाणित है कि मनुष्य का अनुभव उत्तरोत्तर विकासमान है, न कि चरमावस्था पर पहुँचा हुआ, रुका हुआ है।

वास्तव में पूर्ववर्ती संस्कृति आगामी संस्कृति के बीच स्वयं ही बोती है। जैसे पूँजीवादी स्वयं साम्राज्यवाद का बीजारोपण करता है और अपना पेट अपने ही नाखूनों से फाड़ डालता है, वैसे ही संस्कृति भी करती है।

समाज-व्यवस्था भी वही-वही सदैव नहीं रह सकती। बदलती परिस्थितियाँ बदलती समाज-व्यवस्था लाती है। पुरानी समाज-व्यवस्था नयी समाज-व्यवस्था पैदा करती है।

तथापि अज्ञेय का यह कहना है कि मशीनें समाज-व्यवस्था और संस्कृति का नाश करती हैं, निस्सार है और अनर्गल बकवास है। जिसे अज्ञेय नाश बताते हैं, वास्तव में वह नाश नहीं स्थानापन्न नया निर्माण है। ऐसा भ्रम सही दृष्टिकोण के न होने से हुआ है।

अब दूसरी बात पर आइये कि आज के इस युग में साहित्य फुरसत का, घटिया और सस्ता साहित्य है।

इसके प्रमाण में अज्ञेय नीचे लिखे तीन तर्क देते हैं :–

1. ऊपर कहा गया कि आधुनिक जीवन दो क्रियाओं में बँट जाता है–श्रम, जो अन्तः यान्त्रिक और तोषशून्य है, तथा अवकाश जो मूलतः श्रम की अवस्था की क्षतिपूर्ति है, श्रमित जीवन की थकान से भागना, या कम-से-कम मनोरंजन है। अतः आधुनिक जीवन में संस्कृति के, और उसके प्रमुख अंग, बल्कि केन्द्र साहित्य के लिए कोई स्थान है, तो दूसरी अवस्था में ही है। आज साहित्य का मुख्य उपयोग है–और मेरी समझ में यही उसके लिए सबसे बड़ा खतरा। [त्रिशंकु : पृष्ठ संख्या 16-17]

2. दूसरी ओर, मशीन-युग के साथ जो Mass Production आया है, उसके लिए विज्ञापनबाजी आवश्यक है। विज्ञापनबाजी स्वयं मशीन-युग की विशेषताओं को उग्रतर बनाती है, और साहित्य को सस्ता, घटिया और एकरस बनाने का कारण बनती है।

[त्रिशंकु : पृष्ठ संख्या 20]

3. आधुनिकता की प्रगति यह है कि सस्ती, ऊपरी और तात्कालिक सामयिक रुचि की बातों को छोड़कर अन्य सभी को निरुत्साहित किया जाय, सस्ती और ऊपरी प्रवृत्तियों के लिए खाद्य दिया जाय।

[त्रिशंकु : पृष्ठ संख्या 18]

अज्ञेय के पहले तर्क को यदि दूसरे शब्दों में व्यक्त किया जाय, तो नीचे लिखे अनुसार कहना पड़ेगा :

–क्योंकि फुरसत में ही साहित्य का उपयोग हो सकता है, इससे वह अवकाश का साहित्य है।

देखने ही से ज्ञात होता है कि यह तर्क बेकार है। फुरसत में पढ़ा जानेवाला साहित्य इसलिए अवकाश का साहित्य नहीं हो सकता कि प्रत्येक साहित्य अवकाश ही में पढ़ा जाता है। काम के समय किसी भी साहित्य का अवलोकन सम्भव नहीं। अवकाश ही में भक्तगण भगवान की पूजा करते हैं। और यदि अज्ञेय की बात मान ली

जाय, तो भगवान का तथाकथित गम्भीर चिन्तन और अवकाश का साहित्य दोनों ही में एक कोटि में आ जायँगे। इस प्रकार से तो समस्त साहित्य अवकाश का साहित्य है। केवल आधुनिक साहित्य पर ही इस तथाकथित निर्मूल दोष को मढ़ा नहीं जा सकता।

दूसरा तर्क भी खोखला है। अज्ञेय ने कोई आँकड़े उन-उन पुस्तकों की बिक्री के नहीं दिये, जिनसे उनका यह सार्वभौमिक सत्य मान लिया जाय कि आधुनिकता की प्रकृति है कि वह सस्ती, ऊपरी और तत्कालिक (सामयिक) रुचि की बातों को उत्साहित करे। फिर, यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह आधुनिकता की प्रकृति है, क्योंकि आधुनिक संस्कृति—यंत्र-युग की संस्कृति—नित्यप्रति उत्तरोत्तर निर्मित होती जा रही है। जो आज पढ़ा जा रहा है; वह कल न पढ़ा जायगा। उससे भी उन्नतिशील साहित्य का सृजन होगा। जो आज लिखा जा रहा है, वह कल न लिखा जायगा—उसने भी उत्तम साहित्य रचा जायगा। एक प्रकार से यह तो जनता के कम शिक्षित होने का दोष है कि वह विचारवान् नहीं है और सस्ती, ऊपरी, और सामयिक साहित्य-सामग्री चाहती है। इसमें आधुनिकता का दोष नहीं है। इस युग की आधुनिकता तो वैज्ञानिक अनुसंधान में लीन है और जितनी अधिक लाभप्रद खोजें हुई हैं, वह सब आधुनिकता ही ने की है।

तीसरा प्रमाण विज्ञापनबाजी का है। अभी तक भारतवर्ष में न सार्वजनिक शिक्षा का प्रसार हुआ है, न सबतक पहुँच सकने वाला पुस्तक-प्रकाशन ही संभव हुआ है, और न पुस्तक की बिक्री का अधिक विज्ञापन ही हुआ है। यहाँ पर अज्ञेय ने विदेशी व्यापार की तरकीबों से प्रभावित होकर साहित्य के बारे में ऐसा लिखा है, यह सर्वथा अनुचित है। भारत में तो अब भी मशीनयुग पूर्ण रूप से नहीं आया—Mass Production की कौन कहे। भारत को छोड़िये, विदेशों की बात कीजिये। वहाँ तो एक-से-एक गम्भीर साहित्य की सृष्टि हो रही है।

मालूम होता है कि अज्ञेय सस्ते और घटिया साहित्य के अत्यधिक खिलाफ हैं। लेकिन उनको यह जानना चाहिए कि सस्ते और घटिया साहित्य की भी वैसी ही जरूरत है, जैसी जरूरत चिन्तनशील और मननसापेक्ष साहित्य की है। अज्ञेय ने इन दोनों को सम्भवत: भूल से एक कर दिया है।

अब रही साहित्य से मनोरंजन वाली बात।

सब साहित्य मनोरंजन के वास्ते नहीं लिखा जाता। कुछ मनोरंजन का साहित्य होता है। कुछ विचार का साहित्य होता है। अपना-अपना प्रकार होता है। मालूम होता है कि अज्ञेय विचारशील साहित्य के प्रकाशन को बिसर गये थे। हिन्दी में, आधुनिक युग में, कागज़ की कमी होने पर भी ऐसी न जाने कितनी—बहुत संख्या में—गम्भीर पुस्तकें छपी हैं, जिससे कहा जा सकता है कि अज्ञेय को ऐसा लिखते समय भ्रम हो गया है।

अज्ञेय ने जैसी गलती साहित्य के सम्बन्ध में की है, वैसी ही गलती उन्होंने 'उद्धार' के विषय में भी की है। वह कहते हैं कि इसके लिए मानसिक शिक्षण नितान्त आवश्यक, बल्कि अनिवार्य है और इसलिए एक आलोचक राष्ट्र का निर्माण करना होगा।

पहली बात देखने की यह है कि जिस अपूर्व शिक्षण की चर्चा अज्ञेय ने की है, वह सम्भव भी है?

हमारा राष्ट्रीय जीवन जिन परिस्थितियों में, जिन आर्थिक एवं राजनैतिक दिशाओं से होकर गुजर रहा है, उनमें ऐसे शिक्षण की सम्भावना नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि अज्ञेय शिक्षा का सारा भार कुछेक जागरूक व्यक्तियों को ही देकर निश्चिन्त होना चाहते हैं। यह पुरानी दवा है और देखा जा चुका है कि वह चुने हुए जागरूक व्यक्ति भी किसी के हाथ की कठपुतली बनकर नाचना शुरू कर देते हैं और सही शिक्षा असम्भव हो जाती है। अस्तु, अज्ञेय की यह सलाह भी निरर्थक है।

सम्पूर्ण लेख से यह पता चलता है कि अज्ञेय के मन को संस्कृति के विनाश का भयानक 'हौआ' परेशान किये है। उस 'हौवे' ने अज्ञेय में Fear Complex भर दिया है। उसी Complex ने इस लेख में अज्ञेय को विभ्रान्त कर दिया है। उन्होंने ऐतिहासिक दृष्टि से रंच भी काम नहीं लिया और न ही भौतिकवाद की वैज्ञानिक प्रवृत्ति से। उनका यह दावा कि वह वैज्ञानिक, उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग पर जोर चाहते थे, बिल्कुल झूठ निकला।

जान पड़ता है कि अज्ञेय की धारणा यह है कि संस्कृति एकरस है और एकरस है तो केवल उस अर्थ में कि वह जैसी आज से पूर्ववर्ती युग में—मशीन-युग के आगमन से पहले—थी वैसी सर्वकालीन और अपरिवर्तन-शील है, चाहे विज्ञान और संसार की समस्त परिस्थितियाँ जितना अग्रसर हो जायें; भौतिकवाद की दिशा में या किसी दूसरी अन्य दिशा में।

उनकी यह भी धारणा है कि मशीन-युग स्वयमेव बुरा है, विध्वंसक है और उसके आते ही संस्कृति का ह्रास होता है और उसका यह ह्रास इस प्रकार से चलता है कि वह सबसे पहले साहित्य पर आक्रमण करके उसे घटिया और सस्ता बना देता है और चूँकि संस्कृति का चरम उत्कर्ष, भाषा के चरम उत्कर्ष के माध्यम द्वारा, साहित्य है, इस हेतु साहित्य के घटिया होने पर संस्कृति का पतन होता है। संस्कृति के इस पतन से सम्बन्धित जीवन है। इससे वह भी साहित्य की ही भाँति सस्ता, घटिया और अर्थहीन बन जाता है।

जो संस्कृति आदिम साम्यवाद के युग में थी, वह सामन्तवादी युग में न थी; जो सामन्तवादी काल में थी, वह पूँजीवादी युग में न थी; और जो पूँजीवादी काल में थी, साम्राज्यवादी युग में नहीं है। युग-युग की उन्नतशील प्रबलतर शक्ति के साथ ही संस्कृति सदैव रूप-परिवर्तन करती चली है। अब तक संस्कृति एक विशेष निर्दिष्ट

स्थान तक पहुँची है। इसके आगे भी मार्ग है और बहुत व्यापक मार्ग है—समस्त विश्व को एकसूत्र में बाँधने का मार्ग है। अब उसे व्यापक मार्ग पर बढ़ना है।

आज की उन्नतिशील शक्तियाँ है मजदूर-विज्ञान की, सर्वहारा वर्ग की शक्तियाँ, जो समस्त विश्व में शोषित हैं, शासित है, यद्यपि संख्या में अत्यधिक हैं।

फलतः अब साहित्य भी इसी संस्कृति में पलकर सर्वहारा वर्ग का विश्वश्रेष्ठ साहित्य हो रहा है। यही युग का प्रतिनिधित्व करेगा। इससे घबड़ाने की रत्ती भर भी आवश्यकता अथवा आशंका नहीं है।

❑

रूढ़ि और मौलिकता

अज्ञेय ने अपने लेख के प्रारम्भ में नीचे लिखे तीन निष्कर्ष निकाले हैं :–

(1) 'साहित्य में भी, विशेषतया आलोचना के प्रसंग में, यह फैशन-सा हो गया है कि रूढ़ि का तिरस्कार किया जाय।' [त्रिशंकु , पृष्ठ संख्या 30]

(2) 'जब यह तिरस्कार इतना स्पष्ट नहीं भी होता, तब भी हम किसी आधुनिक लेखक की समकालीनता अथवा कि 'आधुनिकता' का मूल्यांकन इसी कसौटी पर करते हैं कि वह किस हद तक रूढ़ियों को मानता अथवा तोड़ता है।'

[त्रिशंकु, पृष्ठ संख्या 30]

(3) 'आजकल का साहित्यकार अपनी 'भिन्नता' के लिए ही प्रशंसा पाता है, 'मौलिकता' 'भिन्नता' का ही पर्यायवाची बन गया है।' [त्रिशंकु, पृष्ठ संख्या 30]

दूसरे शब्दों में यह तीन बातें इसप्रकार हैं :–

पहला निष्कर्ष रूढ़ि के ठुकराये जाने के बारे में है।

दूसरा निष्कर्ष रूढ़ि के तोड़ने में ही आधुनिकता समझी जाने के बारे में है।

तीसरा निष्कर्ष भिन्नता को ही मौलिकता तथा मानने-समझने के बारे में है।

पर अज्ञेय इन तीनों धारणाओं से असहमत हैं। इनसे उनका विरोधी मत है।

रूढ़ि के बारे में उनकी धारणा तीन तरह से व्यक्त हुई है, जो नीचे दी जाती है :–

(1) 'हमें सबसे पहले यह समझना होगा कि रूढ़ि अथवा परम्परा कोई बनी-बनायी चीज़ नहीं है, जिसे साहित्यकार ज्यों-का-त्यों पा या छोड़ सकता है, मिट्टी के लोंदे की तरह अपना या फेंक सकता है।' [त्रिशंकु, पृष्ठ संख्या 31]

(2) '..... परम्परा स्वयं लेखक पर हावी नहीं होती, बल्कि लेखक चाहे तो परिश्रम से उसे प्राप्त कर सकता है, लेखक की साधना से ही रूढ़ि बनती और मिलती है। [त्रिशंकु , पृष्ठ संख्या 31]

(3) '..... रूढ़ि की साधना साहित्यकार के लिए वांछनीय ही नहीं, साहित्यिक प्रौढ़ता प्राप्त करने के लिए अनिवार्य भी है।'

[त्रिशंकु, पृष्ठ संख्या 31]

मौलिकता के बारे में उनकी धारणा नीचे लिखे अनुसार है :–

'कवि का कार्य नये अनुभवों की, नये भावों की खोज नहीं है, प्रत्युत पुराने और परिचित भावों के उपकरण से ही ऐसी नूतन अनुभूतियों की सृष्टि करना है, जो उन भावों से पहले प्राप्त नहीं की जा चुकी हैं। वह नयी धातुओं का शोधक नहीं है; हमारी जानी हुई धातुओं से ही नया योग ढालने में और उससे नया चमत्कार उत्पन्न करने में उसकी सफलता और महानता है।' [त्रिशंकु, पृष्ठ संख्या 39]

स्पष्ट है कि रूढ़ि और मौलिकता के अज्ञेय के विचार प्रचलित मत के विचारों से बिल्कुल उल्टे हैं। दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं। वे कहीं भी मेल नहीं खाते। एक पूरब जाता है, तो दूसरा पच्छिम।

यह विचार-विरोध अथवा धारणा-विरोध केवल मात्र दो पृथक् साहित्यिक दृष्टिकोणों का परिणाम है।

कला के बारे में अज्ञेय का निम्नांकित दृष्टिकोण है : –

(1) ..... कला की सामग्री निरन्तर बदलती रहती है, कला शायद नहीं बदलती।' [त्रिशंकु, पृष्ठ संख्या 33-35]

(2) 'कलाकार जितना ही बड़ा होगा, उतना ही व्यक्ति-जीवन और रचनाशील मन का यह अलगाव भी आत्यंतिक होगा।' [त्रिशंकु, पृष्ठ संख्या 38]

(3) ' ..... कला का रस कला ही में प्राप्तव्य है।' [त्रिशंकु, पृष्ठ संख्या 38]

(4) 'काव्य एक व्यक्ति की नहीं, एक माध्यम की अभिव्यक्ति है।'

[त्रिशंकु, पृष्ठ संख्या 39]

(5) 'कला के भाव व्यक्तित्व से परे होते हैं, निर्वैयक्तिक होते हैं।'

[त्रिशंकु, पृष्ठ संख्या 40]

(6) 'काव्य का 'रस' कवि में या कवि के जीवन में या वर्ण्यविषय अथवा अनुभूति में या किसी शब्द-विशेष में नहीं है, वह काव्य-रचना की चमत्कारिक तीव्रता में है।' [त्रिशंकु, पृष्ठ संख्या 41]

कला के बारे में प्रचलित दृष्टिकोण इसप्रकार है :–

(1) कला की सामग्री निरन्तर बदलती रहती है, कला भी बदलती रहती है।

(2) कलाकार जितना ही बड़ा होगा, उतना ही व्यक्ति-जीवन और रचनाशील क्रिया में अविच्छिन्न सम्बन्ध होगा।

(3) कला किसी रस की सृष्टि नहीं करती, बल्कि दृश्यजगत् और जीवन से उत्पन्न मानव की मानसिक प्रक्रिया को युग की प्रगतिशील चेतना के रूप में स्फूर्तिपूर्ण वाणी में व्यक्त करती है।

(4) काव्य एक ऐसे व्यक्ति की अभिव्यक्ति है, जो युग का प्रगतिशील माध्यम भी है।

(5) कला के भाव व्यक्तित्त्व के भीतर होते हैं, निर्व्यैयक्तक नहीं होते हैं।

(6) काव्य-रचना का सम्बन्ध कवि से, कवि-जीवन से, वर्ण्यविषय से, उसकी अनूभूति से, शब्दों से, समाज से है, चमत्कारिक तीव्रता से नहीं।

रूढ़ि और मौलिकता पर विचार करने से पूर्व, पहले कला के उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोणों पर हीं विचार और विवेचन करना युक्तिपूर्ण होगा। कारण कि अज्ञेय के रूढ़ि और मौलिकता-सम्बन्धी विचार कला के दृष्टिकोण पर ही आधारित हैं।

अज्ञेय की पहली बात समझ में न आनेवाली बात है। कला की सामग्री बदलती है और कला शायद नहीं बदलती, यह नहीं हो सकता। कला की सामग्री का बदलना और कला का न बदलना एकसाथ कभी सम्भाव्य नहीं है। सामग्री के बदलने पर कला अवश्य बदलेगी। कला एक व्यक्त हुई प्रक्रिया है; इसलिए दृश्यजगत् के विभिन्न केन्द्रों से विभिन्न मानसिक प्रक्रिया का होना अनिवार्य है। रामनाथ का उदाहरण लीजिये। वह अभी रुई की मिल देखता है। इस देखने से उसके मन में एक प्रक्रिया होती है। वही रामनाथ जब गंगा में डूबते हुए मनोहर को देखता है, तब उसके मन में एक दूसरी ही प्रक्रिया होती है। यहाँ रामनाथ के प्रक्रियाशील मन में प्रक्रिया दो प्रकार की होती है और दो विभिन्न केन्द्रों से उत्पन्न होती है। क्या यह किसी भी प्रकार से कहा जा सकता है कि रामनाथ में हुई दोनों प्रक्रियाएँ एक हैं। मानना पड़ेगा कि वह दोनों एक नहीं हैं। अब इसी उदाहरण को और आगे ले चलिए। रामनाथ कवि भी है। लेकिन अभी तक वह 'अ' का आश्रित है। उसे मिल-मालिक से जीवन की अनेकानेक सुविधाएँ प्राप्त हैं। इसलिए जब रामनाथ रुई की मिल देखता है, तो यही प्रक्रिया उसके अन्दर होती है कि युगयुगान्तर तक 'अ' इस मिल का मालिक बना रहे और वे मजदूर, जो वहाँ काम करते हैं, इसी तरह उसके नौकर बने रहें। रामनाथ 'अ' को मजदूरों का पालक-पिता ही समझता है। इस हेतु वहअक्सर मिल में होनेवाले जलसों में अपनी कविता सुनाता है और यही भाव व्यक्त करता है कि मजदूरों को 'अ' का चिरकृतज्ञ होना चाहिए; क्योंकि वह रोटी देता है, पैसा देता है और उसकी छत्रछाया में उनका जीवन बीता जाता है। यही रामनाथ इस बार मनोहर को नहीं, एक दूसरे व्यक्ति को गंगा में डूबते देखता है। वह इस बार स्वयं गंगा में कूदकर डूबते व्यक्ति को नहीं बचाता, जैसा कि उसने पिछली बार किया था, बल्कि मल्लाहों को आज्ञा देता है कि वे बचावें। इसी से मालूम होता है कि रामनाथ की मानसिक प्रक्रिया वही नहीं रही, जो पहले रह चुकी है। लेकिन यही रामनाथ जो डूबते को बचाने के लिए मल्लाहों को आज्ञा देता है, जब ब्रजबिहारी नामक मजदूर को मारे हंटरों के मिल के भीतर सर होते देखता है तब चूँ तक नहीं करता, वरन् मजदूरों में प्रचार के लिए कविता बनाता है कि ब्रजबिहारी बदमाश है, उसी का सारा अपराध है और उसे उचित दण्ड दिया गया। 'अ'

महान् हैं, उदार हैं, और मजदूरों के शुभचिन्तक हैं। यह प्रक्रिया क्या वही मानसिक प्रक्रिया है, जो डूबते हुए मनुष्य को देखकर उसको बचाने के समय रामनाथ के मन में दृश्य देखकर पैदा हुई थी? नहीं, अब एक पग और बढ़िये। यह वह समय है, जब रामनाथ मिल-मालिक के यहाँ से निकाल दिया गया है और अब समाजवादी पार्टी का काम करता है। मिल में हड़ताल होती है, वह उसमें सहयोग देता है। कविताएँ बनाता है और खुद भी मजदूरों की टोलियों में गाता है। कविताएँ क्या होती हैं, जैसे कलेजा चीरने वाली छूरियाँ। इस बार वह 'अ' की प्रशंसा नहीं करता। मजदूरों की प्रशंसा करता है। मिल-मालिक को अपमानित करता है और मजदूरों की माँगों का समर्थन करता है। कहता है, नाजायज कोयला रखकर अधिक लाभ उठानेवाले को मजदूरों की मजदूरी बढ़ानी पड़ेगी। ऐसा क्यों होता है? क्योंकि इस बार दृश्य-जगत् का केन्द्र परिवर्तित हो गया है। प्रक्रियाशील मन भी परिवर्तित हो गया है। रामनाथ अर्थशास्त्री हो गया है। वह उत्पादन के नियमों को समझ गया है। 'अ' का रुपया वास्तव में मजदूरों के श्रम का चुराया हुआ रुपया है।

इस सबसे यही निष्कर्ष निकलता है कि कला की सामग्री निरन्तर बदलती रहती है, कला भी बदलती रहती है।

फिर जब अज्ञेय कला को अपरिवर्तनशील मान लेते हैं, तब वह उसे मानवीय पहुँच से, या यों कहिये कि स्पर्श से, परे पहुँचा देते हैं। इसमें संदेह नहीं कि ऐसा मान लेने से, कला नैसर्गिक हो जाती है, जैसा कि वह है नहीं। किन्तु यही अस्पर्शता उसकी निरर्थकता हो जाती है।

अब अज्ञेय के दूसरे दृष्टिकोण को लीजिये। व्यक्ति-जीवन और रचनाशील मन के अलगाव की बात भी समझ में न आनेवाली बात है। पहली बात तो यह है कि रचनाशील मन व्यक्ति-जीवन ही तो है। फिर यह कैसे कहा जाय कि रचना करनेवाला कवि-मानस अनुभव करनेवाले मानव से दूर और पृथक् होगा। कवि अथवा कलाकार का व्यक्तित्त्व ही तो प्रक्रिया का केन्द्र होता है। प्रक्रियापूर्ण व्यक्तित्व ही तो रचना के रूप में व्यक्त होता है। इस व्यक्तित्व को ही अनुभूति होती है और यही व्यक्तित्व उस अनुभूति को व्यक्त करता है। व्यक्तित्व का परिष्कार ही उसकी अनुभूतियों का परिष्कार है, उसकी प्रक्रिया का परिष्कार है।

समझने के लिए रामनाथ वाला उदाहरण फिर लीजिये। रामनाथ का व्यक्ति-जीवन लगातार उसकी बदली हुई अनुभूतियों का कारण है, उसकी बदली हुई मानसिक प्रक्रिया का कारण है; और उसकी बदली हुई रचना का कारण है। 'अ' मिल-मालिक की प्रशंसा करनेवाला उसका व्यक्तित्व समाजवादी पार्टी वाले उसके व्यक्तित्व का अविकसित व्यक्तित्व ही तो है। तभी तो वह पहले मिल-मालिक को चोर-डाकू और लुटेरा कहकर सम्बोधित नहीं करता था। अब वह उत्पादन और शोषण की नीति को समझ गया है। इस हेतु उसका व्यक्तित्व, प्रशंसक व्यक्तित्व से बदलकर घृणा

करनेवाला व्यक्तित्व हो गया है। 'अ' चोर, डाकू, लुटेरा और मजदूरों का बैरी बन गया है। बाद की कविताएँ पहले की उसकी रचनाओं से किसी भी तरह साम्य नहीं स्थापित कर सकतीं।

इसलिए यही कहना पड़ता है कि कलाकार जितना बड़ा होगा, उतना ही व्यक्ति-जीवन और रचनाशील क्रिया में अविच्छिन्न सम्बन्ध होगा।

कला का रस कला ही में प्राप्त होता है, अज्ञेय का यह दृष्टिकोण उनके पहले और दूसरे दृष्टिकोणों पर ही आधारित है। रचनाशील मन को, व्यक्ति-जीवन से उच्छिन्न करके और समस्त बदलती रहनेवाली सामग्री से परे करके, अज्ञेय ने एक रसायनशाला में बंद कर दिया है, जहाँ वह स्थायी और संचारी भावों द्वारा रस की उत्पत्ति किया करता है, चमत्कारिक रचनाओं द्वारा। लेकिन ऐसा नहीं होता। यह सिद्धान्त तथ्यविहीन है। वास्तव में कवि ऐसी किसी बन्द रसायनशाला का रचयिता नहीं है। वह खुले जगत् का जीव है। उसे समस्त दृश्य-जगत् के केन्द्रों से अनुभूतियाँ प्राप्त होती हैं और उसमें इन अनुभूतियों की प्रक्रिया चलती रहती है। बाह्य जगत् ही उसके अन्तर्जगत का नियामक है। रस की सृष्टि जैसी कोई चीज़ नहीं होती। रस अगर सार्थक हो सकता है, तो इसी अर्थ में कि वह प्रक्रिया का रचनात्मक रूप है, किन्तु अज्ञेय इसे रस नहीं कहते। वह रचना और रस को अलग मानते हैं। कला को रचना से पृथक् मानते हैं। रस को कला में सन्निहित मानते हैं।

देखना यह है कि अज्ञेय का ऐसा कहना कहाँ तक उचित है।

एक बार पुनः रामनाथ वाले उदाहरण की ध्यानपूर्ण विवेचना कीजिये।

सोचना यह है कि किस कारण से रामनाथ मजदूरों की माँगों का समर्थन करने लगा है और वह वैसी कविताएँ क्यों लिखता है। ऐसा करने से ही यह बात ज्ञात हो जायेगी कि 'कला में रस है' की युक्ति असत्य है।

रामनाथ पर समाजवादी सिद्धान्तों का रंग चढ़ चुका है। उत्पादन के मूल्य में श्रम की महत्ता को वह स्वीकार कर चुका है। वह यह जान गया है, आँकड़े देखकर, कि 'अ' की पूँजी श्रमिकों के श्रम की है, जिसे 'अ' ने श्रमिकों को आंशिक रूप में ही दी है और शेष-अधिकांश वह स्वयं दबा बैठा है। इन तथ्यों के जान लेने पर ही वह मजदूरों की माँगों का साहसपूर्ण समर्थन करता है। उसकी संस्कृति नयी हो गयी है। उसकी सहानुभूति मजदूरों से सम्बन्धित हो गयी है। इसलिए ही वह समर्थ है कि मजदूरों की प्रशंसा में कविता लिखे। उसकी नयी कविता में उपर्युक्त समस्त कारणों का सम्मिलित योग होता है, तभी तो मानसिक प्रक्रिया चलती है और रचनात्मक रूप लेकर प्रकट होती है। यही रचना कला होती है; यही रचना कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होती है; यही रचना संस्कृति की अभिव्यक्ति होती है; और यही रचना पाठक के हृदय में समप्रक्रिया की जननी होती है। रचना से भिन्न, रचना से पृथक्, रचना से दूर, व्यक्तित्व से दूर, संस्कृति से विलग और पाठक से विलग कला नहीं होती; न हो

सकती है। यदि रचना, व्यक्तित्व, संस्कृति दृश्य-जगत्, और पाठक को हटा लिया जाय, तो कोई भी चीज़ 'कला' कहलाने वाली शेष न रहेगी। रामनाथ की कविता इन्हीं सबका सम्मिलित योग है। वह अज्ञेय की 'कला' नहीं है और न उसमें उनके 'रस' की सृष्टि है। वह है तो केवल एक प्रक्रियामात्र, जो उपर्युक्त तत्त्वों से मिलकर बनी है और फिर वही स्वानुरूप प्रक्रिया पाठक के हृदय में पैदा करती है।

यदि ऐसा न हो, तो साहित्य और समाज का, साहित्य और संस्कृति का और साहित्य और जीवन का सब सम्बन्ध ही मिट जाय।

फलतः अज्ञेय का तीसरा दृष्टिकोण गलत सिद्ध हुआ और प्रचलित दृष्टिकोण ही सत्य निकला कि कला किसी रस की सृष्टि नहीं करती, बल्कि दृश्य-जगत् और जीवन से उत्पन्न मानव की मानसिक प्रक्रिया को युग की प्रगतिशील चेतना के रूप में, स्फूर्तिपूर्ण वाणी में व्यक्त करती है।

चौथा दृष्टिकोण कि 'काव्य एक व्यक्ति की नहीं, एक माध्यम की अभिव्यक्ति है' बिल्कुल गलत है।

अज्ञेय ने व्यक्ति और माध्यम को दो परस्पर विरोधी इकाइयों के रूप में समझा है। देखना यह है कि तथ्य क्या है?

व्यक्ति को निकाल देने पर माध्यम बच रहता है। व्यक्ति में ही दृश्य-जगत् की मानसिक प्रक्रिया हुआ करती है। व्यक्ति के निकल जाने पर दृश्य जगत् से होनेवाली प्रक्रिया भी समाप्त हो जाती है। फिर रह क्या जाता है? एकमात्र माध्यम, ऐसा माध्यम जो दृश्य-जगत् की प्रक्रिया से रहित है। किन्तु ऐसे माध्यम का अस्तित्त्व नितान्त असम्भव है। 'व्यक्ति' में ही तो 'माध्यम' की सम्भावना हो सकती है। जब व्यक्ति ही नहीं रहा, तब 'माध्यम' कैसे रह सकता है? दूसरे शब्दों में 'व्यक्ति' का ही अंश 'माध्यम' है। 'व्यक्ति' और 'माध्यम' एक ही हैं। ये दोनों विरोधी इकाइयाँ कदापि नहीं हैं। व्यक्ति ही माध्यम है और काव्य उसी की अभिव्यक्ति है।

पाँचवें दृष्टिकोण का आधार अज्ञेय का चौथा दृष्टिकोण ही है। चौथे के खिसक जाने पर पाँचवाँ अपने-आप खिसक जाता है।

जब अज्ञेय यह कहते हैं कि कला के भाव निर्वैयक्तिक होते हैं, तब उनका तात्पर्य यह रहता है कि कला के भाव एक माध्यम की अभिव्यक्ति हैं, न कि व्यक्ति की।

'निर्वैयक्तिक' शब्द बहुत विचारणीय है। यह संकेत करता है कि कला के भाव व्यक्ति के भावों से रहित होते हैं। उन भावों में व्यक्ति की विशेषताएँ और अवगुण कुछ भी नहीं रहते।

'निर्वैयक्तिक' केवल इसलिए कहा गया है कि कला एक ही न रहे; बल्कि सबकी रहे; दूसरे शब्दों में, कला सार्वभौमिक हो जाय। सार्वभौमिक करने के लिए ही व्यक्ति को मिटाने में अज्ञेय अपनी क्षमता समझते हैं। वह यह नहीं जानते कि व्यक्ति

स्वयं इस वस्तु-जगत् का एक अंश है। इसलिए व्यक्ति स्वयं एक सार्वभौमिक सत्य है। हाँ, व्यक्ति की सार्वभौमिकता के व्यक्त होने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति स्वयं-केन्द्रित न हो, प्रत्युत् वस्तु-जगत् में ही अपनी सत्ता स्वीकार करने लगे। ऐसा होते ही उस व्यक्ति की कला में सार्वभौमिकता आ जायगी। यह अधिक समझ में आनेवाली बात जान पड़ती है। व्यक्ति को मारकर आसमान में विचरने से कोई लाभ नहीं है।

अज्ञेय ने 'निर्वैयक्तिक' की व्याख्या व्यक्ति के मिटाने में की है, किन्तु प्रचलित धारणा है कि व्यक्ति 'निर्वैयक्तिक' भी होता है। जब वह अपने को मिटाता नहीं है, वरन् अपना विकास करके सबका हो जाता है। अतएव इसी अर्थ में प्रचलित मत की पुष्टि होती है कि कला के भाव व्यक्तित्व के भीतर होते हैं। वे निर्वैयक्तिक नहीं होते।

अज्ञेय का छठवाँ दृष्टिकोण उपर्युक्त पाँचों दृष्टिकोणों का स्वाभाविक परिणाम है। यही कारण है कि अज्ञेय काव्य के रस को कवि में या कवि-जीवन में या वर्ण्यविषय में या अनुभूति में, या किसी शब्द-विशेष में नहीं पाते हैं; वह उसे रचना की चमत्कारिक तीव्रता में ही पाते हैं। यह छठवाँ दृष्टिकोण उतना ही गलत है, जितने उनके पाँचों दृष्टिकोण।

कवि की कविता का सम्बन्ध वस्तु-जगत् के वर्ण्यविषय से है, क्योंकि उसी से मानसिक प्रक्रिया उत्पन्न होती है; कवि से और कवि-जीवन से है, क्योंकि कवि में ही, कवि-जीवन में ही मानसिक प्रक्रिया होती है; अनुभूति से है, क्योंकि उसमें ही वह प्रक्रिया बन्दी रहती है; और शब्दों से है, क्योंकि उनके द्वारा ही इस प्रक्रिया को कवि कविता के रूप में व्यक्त करता है। कविता 'चमत्कारिक तीव्रता' में न रही है न रहेगी। 'चमत्कारिक तीव्रता' की बात करना असंगत है। वह अपना कोई निजी अस्तित्व नहीं रखती। 'चमत्कारिक तीव्रता' सम्पूर्ण प्रक्रिया का प्रतिफल हो सकती है, किन्तु वह स्वयं कुछ नहीं है।

कला पर विचार कर लेने के बाद अब अज्ञेय के रूढ़ि-सम्बन्धी विचारों को लीजिये।

वह कहते हैं—'रूढ़ि की रूढ़िग्रस्त परिभाषा हमें छोड़नी होगी, हमें उदार दृष्टिकोण से उसका नया और विशालतर अर्थ लेना होगा।' [त्रिशंकु, पृष्ठ संख्या 31]

उनका अभिप्राय यह है कि 'पुराने साहित्य की अग्राह्य और खण्डनीय परिपाटियों' परम्परा को निबाहना अथवा गयी हुई पीढ़ियों की रीतियों और सफलताओं का अन्धानुकरण वास्तव में रूढ़ि नहीं है।

वह 'रूढ़ि' को 'साधना' कहते हैं, जिसे कवि सब काल से करते चले आये हैं। किन्तु इस साधना को भी वह एक विशेष अर्थ में ही प्रयुक्त करते हैं। उनके मतानुसार वही 'साधना' 'रूढ़ि' है, जिसे ग्रहण करके कवि का रचनाशील मन, भावों और

विभावों द्वारा, चमत्कारिक योग से, रस की उत्पत्ति करता है। यह साधना कवि की ऐतिहासिक चेतना द्वारा सम्भव होती है।

इससे स्पष्ट है कि अज्ञेय रूढ़ि अथवा परम्परा को बनी-बनायी चीज़ नहीं मानते। वह कहते हैं कि रूढ़ि न मिट्टी का लोंदा है, जिसे कवि छोड़ दे; न सत्तू का लड्डू है, जिसे कवि निगल जाये।

लेकिन उनकी यह व्याख्या असार है। कवि वैसी 'साधना' नहीं करते, जैसी 'साधना' का उल्लेख अज्ञेय ने किया है। न कोई रचनाशील मन ही व्यक्ति से अलग होता है, न कोई चमत्कारिक योग ही होता है; और न वह बदलनेवाली कला का Transmitter ही होता है। वास्तव में जो हो गया है, जो सो गया है, जो युगधर्म चला गया है, जो नयी परिस्थितियों में निर्बल है, जो निरर्थक है, और जो अगति है, वही रूढ़ि कहलाता है। रूढ़ि को—ऐसी रूढ़ि को पकड़कर आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। नये निर्माण के वास्ते उसका परित्याग जरूरी है। रूढ़ि की दीवारें नयी हवाओं से धक्का खाकर दरक जाती हैं, टूट जाती हैं, और धराशायी हो जाती हैं।

अज्ञेय का यह कहना कि 'अतीत उसी का नाम है, जो पहले वर्तमान है, जबकि आज वह है, जो वर्तमान होना प्रारम्भ हुआ है' केवल शब्द-चातुरीमात्र है। 'अतीत' को कल का वर्तमान कहना उचित नहीं है, क्योंकि कल के बीते हुए वर्तमान का नाम ही तो 'अतीत' है। यह सब वर्तमान ही वर्तमान है, तब फिर बीते वर्तमान, आज के वर्तमान और आगामी वर्तमान में एक-दूसरे का सम्पूर्ण आरोप्य होना चाहिए। ऐसा तो नहीं है। आदिम साम्यवाद के युग के अब तो दर्शन अप्राप्य हैं। दास-प्रथा के युग की इति हो चुकी है। यदि अज्ञेय का कहना सच है, तो वही-वही वर्तमान फिर-फिर आना-जाना चाहिए।

अज्ञेय का एक वाक्य और देखिये—

'..... कि जागरूक वर्तमान अतीत की एक नये ढंग की ओर नये परिणाम में अनुभूति का नाम है, जैसी और जितनी अनुभूति उस अतीत को स्वयं नहीं थी।'

[त्रिशंकु, पृष्ठ संख्या 35]

रेखांकित शब्दों पर ध्यान से विचार कीजिये। यही नतीजा निकलेगा कि वर्तमान वह नहीं है, जो अतीत था। वर्तमान नया है और अतीत और वर्तमान में महान् अन्तर है। दोनों को किसी भी प्रकार एक नहीं माना जा सकता।

इससे यह प्रमाणित होता है कि रूढ़ि पुराने साहित्य की अग्राह्य खण्डित परिपाटी है, परम्परा को निबाहती है, और गयी-हुई पीढ़ियों की रीतियों और सफलताओं का अंधानुकरण है। रूढ़ि अवश्य ही मिट्टी का लोंदा है, अवश्य ही सत्तू का लड्डू है, जिसे कवि पा या छोड़ सकता है।

अब लेखक पर परम्परा के हावी न होने की बात को, उसके परिश्रम से प्राप्त कर सकने की बात को और लेखक की साधना से ही रूढ़ि के बनने-बिगड़ने की बात को लीजिये।

परम्परा अतीत की परिपाटी का ही नाम है। इसलिए जो काव्य-प्रणाली पूर्वापर कवियों से प्राप्त होती है, वह अतीत की परिपाटी है। उसके अनुसार काव्य करने में सरलता होती है, क्योंकि उदाहरण सामने रहते हैं, जिनका अनुकरण किया जा सकता है। इसी से कवि और लेखक आसानी से परम्परा के शिकार हो जाते हैं। परम्परा उनपर हावी हो जाती है। वह परम्परा की भूलभुलैया में भूलने-भटकने लगते हैं। इसलिए अज्ञेय का यह कहना कि परम्परा लेखक पर हावी नहीं होती, बिल्कुल गलत है। सच पूछा जाय तो यही कहना पड़ेगा कि बिरले ही परम्परा को परास्त कर आगे बढ़ पाते हैं। परम्परा के मोह,परम्परा की सरल सफलता, परम्परा के जाने-पहचाने पथ और परम्परा की पूँजी का अत्यधिक प्रभाव प्रत्येक लेखक पर पड़ता है। यही उसके हावी होने का प्रमाण है। लेखक को उस परम्परा की माला में अपना एक पुष्प विकसित करके देने में परिश्रम तो करना ही पड़ता है, किन्तु वह परिश्रम उतना कठिन नही होता, जितना कठिन वह परिश्रम होता है, जो परम्परा से हटकर चलने में युग के लेखक को करना पड़ता है। युग के लेखक के सामने न कोई उदाहरण होता है, न जानी-मानी दिशाएँ होती हैं, न कोई पथ-प्रदर्शक होता है और न कोई उसका पहले-पहल समर्थक होता है। इसलिए परिश्रमवाली बात भी युग के लेखक पर लागू होती है, परम्परा के लेखक पर नाममात्र को ही लागू होती है। वैसे तो लीक पर चलने में भी पैर बढ़ाना ही पड़ता है, फेफड़ों से साँस खीचना ही पड़ता है, और खून में तेजी और गर्मी पैदा करनी ही पड़ती है। पर, यह साधना नहीं है। यह पुरानी लीक पर घिसटते चलना है। साधना यदि किसी रूप में मिल सकती है, तो युग के लेखक के परिश्रम में ही। वह अन्यत्र नहीं मिल सकती। जिसे अक्षत साधना कहते हैं, वह परम्परा के लेखक में खोजने पर भी नहीं मिलती। बन्द रसायनशाला में प्रयोग करनेवाले 'रसज्ञ' से रोज पिरने वाले गन्ने के रस की ही प्राप्ति हो सकती है; उस रस को चाहे काव्य-रस कह लीजिये अथवा इसका कोई अन्य नाम दे दीजिये। लेकिन उस रस का महत्त्व पेन्सिलीन से किसी कदर कम है। पेन्सिलीन नयी पूर्ति है, जो जीवन के लिए ईजाद की गयी है। इसके ईजाद करने में व्यय हुए श्रम को 'साधना' कहना परम उपयुक्त होगा। इस 'साधना' से 'रूढ़ि' नही बनती, और न वह इससे मिलती है। यह 'साधना' जीवन की प्रगति है, और उस प्रगति को तीव्र करती है, जीवन को विकसित और पूर्ण करती है। युग की समस्याएँ इसी साधना से सरल होती हैं। इसी साधना से नयी संस्कृति बनती है। इसी साधना से नया मानव नये कदम उठाता है, 'एक दुनिया' बनाने के लिए।

इसी हेतु अज्ञेय की तथाकथित 'साधना' साहित्यकार के लिए वांछनीय नहीं है, न ही साहित्यिक प्रौढ़ता प्राप्त करने के लिए वह अनिवार्य है। यह 'साधना' पिटी हुई लकीर को पीटना है। यह 'साधना' रोज-रोज भंग के गोले बनाकर खाते जाना और

उसके नशे में मस्त होते रहना है। यह 'साधना' नौ रसों की वही-वही मूर्तियाँ गढ़ती है। यह 'साधना' जीवन की मूर्तियाँ नहीं गढ़ सकती। यह 'साधना' नयी संस्कृति को व्यक्त नहीं कर सकती। यह 'साधना' मनुष्यों की भीड़ में चलकर भूख, प्यास, अपहरण, शोषण और अत्याचार की व्यथा नहीं कह सकती।

इसीलिए 'रूढ़ि' और 'परम्परा' का तिरस्कार जरूरी है। 'परम्परा' का तिरस्कार फैशन नहीं है, जैसा कि अज्ञेय ने कहा है, यह तिरस्कार जीवन की माँग है, प्रगतिशील मनुष्य का युग-धर्म है। जो कवि या लेखक अपना जितना अधिक योग इस तिरस्कार में देता है, वह उतना ही अधिक प्रगतिशील होता है। इस तिरस्कार से व्यथित होने की कोई वजह नहीं है। अज्ञेय नाहक परेशान हो उठे हैं। वह यह अच्छी तरह जान लें कि 'रूढ़ि' के न मानने में ही, उसके तोड़ने में ही, जीवन और जीवन के साहित्य का कल्याण है। वास्तव में आधुनिक लेखक की समकालीनता अथवा कि आधुनिकता का मूल्यांकन इसी कसौटी पर होना चाहिए कि वह किस हद तक रूढ़ियों को मानता अथवा तोड़ता है। किसी कवि या लेखक के लिए 'परम्परा' का वही मूल्य है, जो उसके अपने पूर्वजों का। पूर्वज न होते तो वह न होता। उसकी सत्ता का कारण उसके पूर्वज हैं। किन्तु वह अपना जीवन व्यतीत करने में स्वतन्त्र है। वह वही काम न करेगा, जो उसके बाप करते रहे हैं। उसके पिता सूदखोरी से पैसा पैदा करके पेट पालते थे, वह यह न करेगा। वह एक वक्त खायेगा, लेकिन किसी का शोषण करके नहीं। इसी प्रकार वह साहित्य में भी वही करेगा, जो मानव-जीवन को हितकारी है। यदि उसे बम्बई के लिए एक महाकार 'वीररस' की प्रस्तर मूर्ति बनाने के लिए कहा जाय, तो वह ऐसा न करेगा। हाँ, यदि उससे नौसैनिकों के विद्रोह की महाकार मूर्ति बनाने को कहा जाय, तो वह अवश्य ही दिन-रात खड़े रहकर, भूख-प्यास सहकर, उसका प्राणपण से निर्माण करेगा। ऐसा इसलिए कि विद्रोह में वह जीवन के अधिकारों का समर्थ स्वरूप पाता है। 'निराला' का उदाहरण लीजिये। उनकी पहली कविताएँ परम्परा के अधिक पास थीं, उनमें रूढ़ि मिलती थी, किन्तु अब की उनकी कविताओं में परम्परा का नाम नहीं रह गया, रूढ़ि खोजने पर भी नहीं मिलती। 'नये पत्ते' में संगृहीत अधिकांश कविताएँ इस बात का सजीव प्रमाण हैं। सच पूछिये तो निराला की साहित्यिक प्रौढ़ता यही है, जो इन रचनाओं में व्यक्त हुई है। इन रचनाओं से पहले तो वह निरन्तर रूढ़ि से, परम्परा से, कुश्ती लड़ते रहे हैं और उसे पूरी तरह पराजित नहीं कर पाते थे। अब उन्होंने रूढ़ि को पूरी तरह पराजित कर दिया है, वह विजयी हुए हैं।

इन तमाम तर्कों से यही नतीजा निकलता है कि प्रौढ़ता का तात्पर्य है 'रूढ़ि' से, 'परम्परा' से मुक्ति पाना और युग की प्रगतिशील शक्तियों से सम्बन्धित होकर अपनी मानसिक प्रक्रिया द्वारा रूढ़ि-रहित आधुनिकता का, जबतक जीना तबतक, प्रस्रवण करते रहना।

उपर्युक्त आधुनिकता अथवा समकालीनता का परित्याग ही रूढ़ि है, मरण है, अतीत है और बन्धन है।

यह तो हुई अज्ञेय के रूढ़ि-सम्बन्धी विचारों की परख। अब उनके मौलिकता-सम्बन्धी विचारों की परख इस प्रकार है।

अज्ञेय कहते हैं—भिन्नता मौलिकता नहीं है। इसलिए जो कवि नये भावों की खोज को अपना काव्य-धर्म समझते हैं, वह मौलिक नहीं हैं। उनकी धारणा है कि 'ऐसी खोज—नूतन मानवीय अनुभूतियाँ प्राप्त करने की लहक—उसे मानवीय वासनाओं के विकृत रूपों की ओर ही ले जायेगी; और उस पर पुष्ट होनेवाला साहित्य या काव्य मानवीय विकृति (Peversity) का ही साहित्य होगा।

शायद अज्ञेय यह भूल जाते हैं कि कवि मौलिक बनने के लिए भिन्नता को नहीं ग्रहण करता। वह भिन्नता की ओर बढ़ता इसलिए है कि उसमें बदले हुए समाज की नयी संस्कृति, नये आर्थिक और राजनैतिक विकास की प्रगतिशील शक्तियों को प्राप्त किये हुए मिलती है। वह भिन्नता इसलिए अपनाता है कि परिस्थितियों के परिवर्तित हो जाने से मानव-जीवन का दृष्टिकोण ही पूर्व से भिन्न हो जाता है। भिन्नता ही विकास बन जाती है। वह भिन्नता वैयक्तिक नहीं होती, 'सब जन हिताय' होती है। कवि उस भिन्नता में अपनी एकान्तिक मनोदशा का विवरण नहीं देता, न उसके देने का प्रयास ही करता है। कवि अन्तर्मुखी नहीं होता, बहिर्मुखी हो जाता है। तात्पर्य यह है कि वह भिन्नता किसी प्रकार से मानवीय विकृति के साहित्य को जन्म नहीं देती।

मानवीय विकृति का साहित्य उस समय लिखा जाता है, जब कवि भौतिक जगत् अथवा उसकी अनुभूतियों का परित्याग कर देता है और आर्थिक और राजनैतिक जीवन से पराङ्मुख हो जाता है। तब कवि स्वयं में बन्द होकर, अपनी संचित अनुभूतियों द्वारा, नयी-नयी मानसिक सृष्टि किया करता है। वह सृष्टि विकृत तो होगी ही। यही कारण है कि अज्ञेय की कला की स्थापना के अनुरूप के काव्य में ऐसी ही सृष्टि के रचे जाने की अत्यधिक सम्भावना है, न कि भिन्नता की ओर बढ़े हुए बहिर्मुखी प्रगतिशील काव्य में, जिसका लक्ष्य ही है व्यक्ति को रूढ़ि से मुक्ति देकर उत्तरोत्तर उन्नति की ओर ले जाना।

रीतिकालीन काव्य को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि अज्ञेय की स्थापना के अनुरूप उस समय के काव्य में ही विकृत वासनाओं की भरमार है। स्थायी और संचारी भावों के तत्त्व, अपने चमत्कारिक योग से रस बरसाने में, उस समय इस बुरी तरह से कवियों को नीचे गिरा रहे थे, जिसका दूसरा उदाहरण शायद अन्यत्र न मिलेगा। उस काव्य को रस-सृष्टि के उद्देश्य से चाहे कोई जितना ही निर्वैयक्तिक कह ले, किन्तु वह है तो घोर वैयक्तिक। उसका सम्बन्ध न समाज से रहता है, न वर्ण्यविषय से रहता है, न जीवन से रहता है। उससे जिस आनन्द की प्राप्ति होती है, वह आनन्द भी दूषित अफीमचियों के मन:लोक का आनन्द है। यदि इस आनन्द की उपलब्धि वाले काव्य की सृष्टि में ही मौलिकता हो सकती है, तब तो वह मौलिकता दो कौड़ी की है। दूसरे शब्दों में, वह सिवाय विकृति के कुछ नहीं है। ऐसी मौलिकता का इस युग के काव्य में

कोई स्थान नहीं है। आजकल का साहित्यकार अपनी भिन्नता के लिए ही प्रशंसा पाता है, वह इसलिए कि वह जनता के साथ है, जन-जीवन के साथ है, और उसी ने मौलिकता का सही अर्थ समझा है। सबका व्यक्तित्व उसका व्यक्तित्व हो गया है।

सारांश में यही कहना पड़ता है कि अज्ञेय की कला-सम्बन्धी स्थापनाएँ गलत हैं, रूढ़ि-सम्बन्धी स्थापनाएँ गलत हैं, और मौलिकता-सम्बन्धी स्थापनाएँ गलत हैं। प्रचलित मत ही इन तीनों के बारे में सही मत है। और साथ ही यह भी नहीं है कि कविता निजी अभिव्यक्ति का उतना ही प्रकाशन है—उससे छुटकारा नहीं है—जितना कि दृश्य-जगत् का प्रकाशन है, समाज का प्रकाशन है, राजनीति का प्रकाशन है, जीवन का प्रकाशन है, और वर्ण का प्रकाशन है। इलियट की यह स्थापना कि 'कलाकार जितना ही सम्पूर्ण होगा, उतना ही उसके भीतर भोगने वाला प्राणी और रचने वाली मनीषा का पृथकत्व स्पष्ट होगा, भ्रान्तिमूलक है और अग्राह्य है।'

❑

कला का स्वभाव और उद्देश्य

अज्ञेय कहते हैं–

'कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न–अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है।' [त्रिशंकु, पृष्ठ संख्या 23 व 25]

दूसरे शब्दों में अज्ञेय के अनुसार, कला के जन्म के लिए, नीचे लिखी तीन बातों की उपस्थिति अनिवार्य है।

1. व्यक्ति ऐसी परिस्थिति में पड़ जाय कि वह अपने समाज के जीवन में कुछ भी योग न दे सके, अर्थात् समाज के किसी भी काम का न रह जाय।

2. व्यक्ति यह अनुभव करे कि वह समाज के लिए किसी काम का नहीं रह गया।

3. यही नहीं, इस वैयक्तिक भावना के उत्पन्न होने पर वैसी स्थिति में भी व्यक्ति कुछ ऐसा काम करे, जो उसकी इस मनोभावना को समूल नष्ट कर दे। अज्ञेय शायद इसी को 'विशेष' कहते हैं। तात्पर्य यह है कि व्यक्ति किसी प्रकार समाज को उपयोगी सिद्ध हो।

अज्ञेय ने अपने उद्धृत कथन को स्वयं ही कल्पना कहा है। देखिए–

'इस स्थापना की परीक्षा करने के पहले कल्पना के आकाश में एक उड़ान भरी जाय। आइये, हम उस अवस्था की परिकल्पना करने का प्रयत्न करें, जिसमें पहली-पहली कलात्मक चेष्टा हुई–जिसमें कला का जन्म हुआ।

[त्रिशंकु, पृष्ठ संख्या 23]

और यह भी मनुष्य के उस काल की है, जब वह घास-पात खाकर रहता था, गुफाओं में वास करता था। नागरिक सभ्यता का तब जन्म भी न हुआ था। अज्ञेय ने कहा है–

'अतएव हम जिस अवस्था की कल्पना करना चाहते हैं, वह वाल्मीकि से बहुत पहले की अवस्था है। वैज्ञानिक मुहावरे की शरण लेकर कहें कि वह नागरिक सभ्यता से पहले की अवस्था होनी चाहिए, वह खेतिहर सभ्यता से और चरवाहा (Nomadic) सभ्यता से भी पहले की अवस्था होनी चाहिए–वह अवस्था जब मानव करारों में कन्दराएँ खोदकर रहता था, और घास-पात या कभी पत्थर या ताँबे के फरसों से आखेट करके मांस खाता था।' [त्रिशंकु, पृष्ठ संख्या 24]

इतनी कल्पना कर लेने पर भी यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक अनुपयोगी व्यक्ति के भीतर रचनात्मक प्रतिक्रिया हो ही—वह आत्मनाशक भी हो सकती है। तथापि अज्ञेय कहते हैं कि—

'हम ऐसे ही व्यक्ति को सामने रखें, जिसमें इतना आत्मबल है कि इस ज्ञान की प्रतिक्रिया रचनात्मक हो, न कि आत्मनाशक।'

[त्रिशंकु, पृष्ठ संख्या 25]

इतना ही नहीं, इस रचनात्मक काम के बारे में भी अज्ञेय ने निम्नांकित कल्पना की है—

'हमारी कल्पना देखती है कि जब उस समाज के समर्थ और बलिष्ठ अहेरी अपने अस्त्र सँभालते हैं, तब वे पाते हैं, उनके अस्त्रों के हत्थों पर शिकार की मूर्तियाँ खुदी हुई हैं, जिनमें अपनी सामर्थ्य का प्रतिबिम्ब देखकर उनकी छाती फूल उठती है, कि जब वे दल बाँधकर खोहों से बाहर निकलते हैं, तब शिकार के रणनाद और घमासान के तुमुल स्वर न जाने कैसे एक ही कंठ के अलाप में रणरंगित हो उठते हैं, कि जब वे लदे हुए कन्धों पर थके और श्रमसिंचित मुँह लटकाये खोहों की ओर लौटते हैं, तब पाते हैं कि खोहों का मार्ग पत्थर की बुकनी से आँकी गयी फूलपत्तियों से सजा हुआ है; कि जब वे दाम्पत्य जीवन की द्विगुणित एकान्तता में प्रवेश करते हैं, तब सहसा पाते हैं कि उस जीवन की चरमावस्था सहचरी के वक्ष पर किसी फल के रस से गोद दी गयी है।'

[त्रिशंकु, पृष्ठ संख्या 25 व 26]

यह भी काल्पनिक सम्भावना है। इसमें वास्तविकता का स्पर्श तक नहीं है। नीचे लिखी पाँच बातों से मालूम हो जाता है कि वह सम्भावना भी ....., इतिहास-विरोधी, मनोविज्ञान-विरोधी, एवम् प्राणिशास्त्र-विरोधी है—

1. इस स्थापना के आधार पर अन्य ललित कलाओं—संगीत, नृत्य और काव्य—की प्रारम्भिक उत्पत्ति के बारे में कोई विचारपूर्ण प्रकाश नहीं पड़ता।

जार्ज टामसन ने संगीत, नृत्य, और काव्य की उत्पत्ति के विषय में ऐतिहासिक दृष्टिकोण से बहुत ही तर्कपूर्ण बात कही है, जो हिन्दी में रूपान्तरित करके पाठकों की जानकारी के लिए नीचे दी जाती है।

'नृत्य, संगीत और कविता, इन तीनों कलाओं का श्रीगणेश एक ही रूप में हुआ था। मनुष्य के सामूहिक श्रम के समय उसके अवयवों के लययुक्त प्रकम्पन में इन तीनों का उद्‌गम एक था। इस प्रकम्पन के दो रूप थे, एक दैहिक, दूसरा मौखिक। दैहिक से नृत्य और मौखिक से भाषा का आविर्भाव हुआ। प्रारम्भ में अस्पष्ट उच्चरित ध्वनियों के द्वारा लय व्यक्त करती हुई भाषा कालान्तर में काव्यात्मक और कथनात्मक रूपों में विभक्त हो गयी। स्वर से बहिष्कृत होकर और औजारों से टकरा कर पैदा होकर वह अस्पष्ट उच्चरित ध्वनियाँ वाद्ययंत्रों के संगीत के आकर्षण की केन्द्र बन गयीं।

'नृत्य का परित्याग ही कविता के आरम्भिक विकास का प्रथम कारण हुआ, तभी गीत का जन्म हुआ। गीत में कविता संगीत का सार है और संगीत कविता का आकार है। किन्तु फिर कविता और संगीत का वियोग हो गया। कविता का आकार उसकी लययुक्त बनावट है, जिसे उसने गीत से विरासत में पाया है और जिसे उसने ऐसा सरल कर दिया है कि वह उसमें युक्तिपूर्ण सामग्री ही भर सके। कविता एक कथा कहती है, जिसमें उसकी खुद की अपनी आन्तरिक सम्बद्धता है और वह सम्बद्धता लययुक्त आकार से सर्वथा भिन्न है। और इस हेतु बाद को कविता से गद्य, रोमांस और उपन्यास प्रकटे, जिनमें काव्यात्मक भाषा के स्थान पर बोलचाल की भाषा का प्रयोग हुआ और जिनमें वाद्ययंत्रों से कोई भी सम्पर्क न रह गया, किन्तु इतना तो रहा ही कि कथा एक संतुलित और एक समताल के रूप में रची जाने लगी।'

[मार्क्सवाद और कविता, पृष्ठ संख्या 19, 1945 संस्करण]

चित्रकला की उत्पत्ति के बारे में जार्ज टामसन ने अपनी पुस्तक में कोई मत प्रस्तुत नहीं किया। किन्तु पता यही चलता है कि मनुष्य ने जब औजार पकड़ना सीख लिया होगा, तब उसने गुफाओं में चित्रांकन करना भी सीख लिया होगा। अज्ञेय की स्थापना से जार्ज टामसन की स्थापना अधिक वैज्ञानिक और युक्तिपूर्ण है। फलतः अज्ञेय की स्थापना अमाननीय है।

2. अज्ञेय ने अपने 'कमजोर' व्यक्ति में उस सामाजिक भावना को स्थापित किया है, जो उस युग के व्यक्ति में वैज्ञानिक रीति के अनुसार स्थापित ही नहीं की जा सकती।

तब व्यक्ति अपनी ही छोटी, संकुचित इकाई में रमा रहता था। उसमें पारम्परिक आदान-प्रदान की प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती थी।

कुटुम्ब की भावना तो बहुत बाद की है। अब मनुष्य को भूख मिटाने के लिए पर्याप्त आखेट न मिलने लगा, तब वह दूसरे क्षेत्रों की ओर गया, जहाँ दूसरे मनुष्यों से संघर्ष में आया। उनमें से एक जीता, एक हारा। अकेले बल को बढ़ाने की प्रेरणा मिली इसी हार-जीत से। हारे व्यक्ति ने कुटुम्ब जोड़ा सुरक्षा के हेतु और भूख मिटाने के हेतु। जीते व्यक्ति ने कुटुम्ब जोड़ा आक्रमणकारी को पराजित करने के हेतु और बली होकर विजयी बने रहने के हेतु। किन्तु इन दोनों को प्रेरणा मिली एकमात्र भूख से।

यही समय था जब मनुष्य ने संग्रह की भावना से परिचय पाया होगा। तभी, उन परिस्थितियों में, उपयोगिता भी, अस्पष्ट ही मनुष्य के मस्तिष्क में आयी होगी। उपयोगिता के साथ ही, अनिवार्य रूप से, अनुपयोगिता भी व्यक्त हुई होगी। उपयोगिता का नकारात्मक रूप ही तो अनुपयोगिता है।

ऐसी दशा में अज्ञेय की 'कल्पना के युग' में सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति का होना ही असम्भव है। जब ऐसी अनुभूति ही असम्भव है, तब उसके विरुद्ध अपने

को प्रमाणित करने की आवश्यकता ही नहीं आती। फिर कैसी अपर्याप्तता और कैसा विद्रोह? सब हवा है।

इसलिए कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न—अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह—नहीं है।

3. फिर उस 'गुहा-काल' में मनुष्य इतना चेतन हो ही नहीं सकता कि अज्ञेय की भाँति अर्न्तदर्शन कर सके और अपनी तथाकथित अनुपयोगिता की पूर्ण स्थिति पर तर्कपूर्ण विचार कर सके कि जिससे उसमें उपयोगिता प्रमाणित करने की बलवती कामना जागरित हो सके।

अज्ञेय ने जिस 'मानसिक-विद्रोह' को उस समय के मनुष्य में आरोपित किया है, वह कदापि न्याय-संगत नहीं है। विद्रोह की यह भावना, बहुत बाद की, उन्नतिशील मनुष्य की है।

इस हेतु और इस कारण से भी अज्ञेय की स्थापना असंगत है।

4. उस युग के मनुष्य में केवल भौतिक सहयोग दे सकने की क्षमता रहती है। मानसिक प्रक्रिया से उत्पन्न सहयोग की भावना तो बहुत विवेकी मनुष्य की भावना है। भला ऐसी भावना अशिक्षित, बनैले मनुष्य में कैसे हो सकती है।

उस समय मनुष्य का सहयोग मस्तिष्कीय नहीं होता था, केवल शारीरिक ही रहता था।

इस दृष्टि से भी अज्ञेय की स्थापना कुछ नहीं है।

5. और सबसे बड़ी बात तो यह है कि मनुष्य ने जब औजारों का प्रयोग सीख लिया, तब उसने, क्रमशः ऐसे भी औजार बनाये, जिनके द्वारा उसने अपनी गुहाओं के भीतर पशुओं की आकृतियाँ इस उद्देश्य से प्रेरित होकर आँकना प्रारम्भ कर दिया, कि उसे उन पशुओं के आखेट में कठिनाई न हो और वे पशु उसकी भूख मिटाने के लिए सहज ही सुलभ हो जायें।

इस बात को डब्लू० जे० पेरी ने अपनी पुस्तक, 'सभ्यता के विकास' में निम्नांकित रूप में व्यक्त किया है :—

''जब पुराने पाषाण-युग के उत्तरार्ध के मनुष्य, जोकि निःसंदेह हमारी ही जाति के हैं, यूरोप में आये, तब वे अपने साथ अरिगनैशियन (Auriganacian) संस्कृति लाये, जो उनके पूर्ववर्तियों की संस्कृति से अत्यधिक उन्नतिशील थी.... किन्तु वे तमाम काम-काज में हड्डी काम में लाने लगे थे और उन्होंने कलात्मक अभिव्यक्ति में अच्छी आश्चर्यजनक सुगमता प्राप्त कर ली थी, जिसके बहुत से उदाहरण फ्रांस और स्पेन की गुहाओं की दीवारों पर खोजे जा चुके हैं।

उनकी कला मुख्यतः बनैले पशुओं के चित्रण तक ही सीमित थी, जिनका कि वे भोजन के लिए आखेट करते थे। वह अपनी गहरी खोहों के भीतर के दूर अँधेरे गर्त्तों

की दीवालों और छतों पर, मुख्यद्वार पर नहीं, जहाँ कि वे रहते थे, बनैले साँड़, बन सुअर, रीक्ष और हिरन इत्यादि की आकृतियाँ पहले खोदते थे और फिर उनको रंगते थे। मालूम यह होता है कि उनकी इस कला का सम्बन्ध भोजन की सामग्री जुटाने से था। पशुओं के चित्रांकन का ध्येय यही था कि ऐसा करने से खाये जानेवाले पशु के आखेट में और उनको पकड़ने में सहायता मिलती है।''

[सभ्यता का विकास : पेलिकन पुस्तकमाला,

1937 संस्करण, पृष्ठ संख्या 26-27]

तो निष्कर्ष यही निकला कि तब मनुष्य महामूढ़ था। उसमें उपयोगिता की युक्तपूर्ण भावना पैदा ही नहीं हुई थी। वह पशुओं का चित्रांकन केवल इस हेतु करता था कि आखेट में सहायता मिले। वह इस ध्येय से अधिक बढ़कर आगे नहीं जा सका था। उसमें ऐन्द्रजालिक सम्भावना ही सम्भावना पर्याप्त मात्रा में व्याप्त थी। ज्ञान का विकास तब नहीं था। उसी ऐन्द्रजालिक प्रवृत्ति से वह प्रेरित होता था और उसी प्रेरणा से वह पत्थरों पर औजार चलाता था। जब उसे पानी की आवश्यकता होती थी, तो वह बादल का नृत्य करता था। वह युग ऐन्द्रजालिक युग था।

जार्ज टामसन ने उपर्युक्त विचार नीचे लिखे रूप में यों व्यक्त किया है :-

''दूसरी ओर जब कि यह प्राकृतिक नियमों की वस्तु-विषयक आवश्यकता के पहचान सकने में असमर्थ हुआ, तब अपने चारों तरफ की दुनिया को वह इसप्रकार इस्तेमाल करने लगा, जैसे कि वह उसकी स्वेच्छाचारी इच्छाशक्ति के अनुकूल परिवर्तित की जा सकती थी। इन्द्रजाल का यह एक आधार है। इन्द्रजाल को मायावी विद्या कहा जा सकता है, जो कि सच्ची विद्या की क्षतिपूर्ति करने में सहकारी होती है। और उपयुक्त शब्दों में कह सकते हैं कि यह सत् विद्या का मानसिक रूप है। ऐन्द्रजालिक कार्य वही कहलाता है, जिसके द्वारा असभ्य मनुष्य अपनी इच्छाशक्ति को अपने वातावरण पर अप्राकृतिक अवस्थाओं का अनुकरण करके, जिनको कि वह सम्भावित करना चाहते हैं, आरोपित करते हैं। यदि वे जल की वर्षा चाहते हैं, तो वह एक ऐसा नृत्य करते हैं, जिसमें एकत्रित होते बादलों का अनुकरण होता है, जिसमें उनकी गर्जना होती है, जिसमें झरती हुई फुहार की फुहियाँ प्रतिबिम्बित होती हैं। अब भी हम इस देश में अक्सर यह सुनते हैं कि अमुक व्यक्ति ने कहीं दूर के अपरिचित प्रदेश में अपने शत्रु की मोम की एक मूर्ति बनायी है और उसमें तमाम आलपीनें चुभा दी हैं, या कि उसे आग में गला दिया है, यही इन्द्रजाल है। विद्वेषी के सर्वनाश की आकांक्षा अनुकरणमात्र में कार्यान्वित होती है।''

[मार्क्स और कविता, 1945 संस्करण, पृष्ठ संख्या 8]

अब तो इस सबसे सिद्ध हो गया कि अज्ञेय की काल्पनिक स्थापना वास्तविकता से पूर्णरूपेण विमुख है। वह बे-सिर-पैर की है। निस्सन्देह अज्ञेय ने कला के जन्म के बारे

में घोर अवैज्ञानिक दृष्टिकोण बना रखा है, जो सर्वथा हेय है। साहित्य में उसका कोई मूल्य नहीं हो सकता।

अब कला के उद्देश्य को देखिये। अज्ञेय ने नीचे लिखे दो उद्देश्य गिनाये हैं :–

1. ''अतएव अपनी सृष्टि के प्रति कलाकार में एक दायित्व-भाव रहता है–अपनी चेतना के गूढ़तम स्वर में वह स्वयं अपना आलोचक बनकर जाँचता रहता है कि जो उसके विद्रोह का फल है, जो समाज को उसकी देन है, वह क्या सचमुच इतना आत्यंतिक मूल्य रखती है कि उसे प्रमाणित कर सके, सिद्धि दे सके? इसप्रकार कला-वस्तु–रचना–का एक नैतिक मूल्यांकन निरन्तर होता रहता है।''

[त्रिशंकु, पृष्ठ संख्या 18]

2. ''ऊपर कहा गया है कि कला एक प्रकार का आत्मदान है, जिसके द्वारा व्यक्ति का अहं अपने को सिद्ध प्रमाणित करना चाहता है। अगर इस वाक्य के पूर्वार्द्ध पर आग्रह था, अब उसके उत्तर्रार्द्ध पर विचार किया जाय। आत्मदान अहं को ही पुष्ट करने के लिए है, क्योंकि अहं को छोटा करके व्यक्ति सम्पूर्ण नहीं रह सकता, बल्कि शायद जी भी नहीं सकता। इसप्रकार कलाकार का आत्मदान केवल एक नैतिक मान्यता के लिए ही नहीं होता, सच्चे अर्थ में 'स्वान्तः सुखाय' भी होता है, और वह सुख अपनी सिद्धि पा लेने का, समाज को उसके बीच रहे होने का प्रतिदान दे देने का सुख है।''

[त्रिशंकु, पृष्ठ संख्या 28-29]

दूसरे शब्दों में अज्ञेय के अनुसार आत्मदान और आत्मबोध ही कला के दो उद्देश्य हैं। ये दोनों बहुत ही अच्छे उलझे शब्द हैं। आत्मदान को समझने के लिए पहले अहं की सत्ता स्वीकार कीजिये, फिर उस अहं के अनुपयोगी हो जाने पर उसमें हुए विद्रोह को स्वीकार कीजिये और तब उस अहं में ऐसी शक्ति भी स्वीकार कीजिये, जो उसे प्रमाणित कर सके अथवा उसे सिद्धि दे सके। वाह रे आत्मदान! ऐसे आत्मदान के लिए अज्ञेय को बधाई दी जाय या उनकी बुराई की जाय!

कलाकार का तथाकथित अहं, उसके व्यक्तित्व से, और मन, प्राण और आत्मा से भिन्न ही कुछ होगा। अज्ञेय को इस अहं की पहचान मालूम है, वही इसे समझ-बूझ सकते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि जिन परिस्थितियों में अज्ञेय ने अहं की कल्पना की है, उनमें ऐसा कुछ अहं जैसा हो नही सकता। इसका विचार पहले ही किया जा चुका है। जब अहं ही नहीं रहता, तो कैसा उसका विद्रोह और कैसी उसकी अन्य बातें।

आत्मदान की भावना सामन्तवाद और पूँजीवाद की देन ज्ञात होती है। 'दान' शब्द ही इसका सूचक है। अज्ञेय ने कलाकार को सामन्त और थैलीशाह के समकक्ष ला बिठाया है, यह अनुचित है। कलाकार तो एक ऐसी इकाई है, जो समाज से सम्बन्धित होकर देश और विश्व से अन्य इकाइयों के साथ जुड़ा हुआ है। उसका अस्तित्व कोई

अलग की इकाई नहीं है। वह सामाजिक नियमों से निर्धारित होता है, राष्ट्र के नियमों से निर्धारित होता है, और विश्वबन्धुत्व से निर्धारित होता है। यही नहीं, वह प्राकृतिक नियमों से उसी तरह निर्धारित होता है, जैसे भौतिक-वस्तुवाद का संसार। उसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार उन्हीं नियमों की प्रक्रिया मात्र होता है। फिर कलाकार का अपना कुछ रह ही नहीं जाता। मनुष्य का मस्तिष्क भौतिकवाद की योजना का ही एक अंग है। कलाकार जो कुछ भी अपना कहकर देने का अभिनय करता है, वह उसका नहीं होता, एकमात्र भौतिक होता है, जो कलाकार को पहले भौतिक जगत् में मिलता है, जिसे वह, मानसिक प्रक्रिया के बाद, फिर संसार को लौटा देता है। इस मानसिक प्रक्रिया का कर्त्ता कलाकार नहीं है। उस क्रिया की सारी जिम्मेदारी प्रकृत के नियमों पर है। इसलिए आत्मदान बेकार की कल्पना है, जिसका कोई अस्तित्व इस युग में नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए पानी के उबालने की क्रिया लीजिये, पानी यह कहे कि भाप मेरा 'अहं' है, तो कितनी बेकार चीज होगी। एक विशेष तापमान पर पानी से भाप बनता है। इसलिए भाप पानी का 'अहं' नहीं है, केवल मात्र प्रकृति के नियम की क्रिया है। जुलाहे का करघा यदि यह कहे कि उसका बुना हुआ कपड़ा उसका 'अहं' है, तो बिल्कुल पागलपन मालूम होगा। मनुष्य की समस्त मानसिक क्रिया स्वयमेव होती रहती है, किन्हीं नियमों के अनुसार। उस मानसिक क्रिया को बाहरी 'अहं' चालू नहीं करता, न कर सकता है। इस हेतु 'अहं' का सारा खिलवाड़ ऐन्द्रजालिक है। न कोई 'प्रमाणित करने की भावना' होती है, न किसी सिद्धि की। जो कुछ भी भावना होती है, वह भौतिक नियमों से परिचालित होने की होती है। उस परिचालित होने की भावना को 'प्रमाणित करना' कहना भाषा के साथ बलात्कार करना होगा। जिसे अज्ञेय नैतिक मूल्यांकन कहते हैं, वह भी भौतिक जगत् से हुए तादात्म्य का ही रूप है। दूसरे शब्दों में तादात्म्य स्थापित करके नियमों का पालन किया जाता है, उसकी अवहेलना नहीं। तथापि आत्मदान की भावना निस्सार है।

अब 'आत्मबोध' को लीजिये। यह 'आत्मदान' के साथ ही आता है। जहाँ आत्मदान है, वहाँ यह है। 'आत्मदान' कारण है, तो यह करण है। जब 'आत्मदान' ही ढह गया, तब यह स्वयमेव ढह जाता है।

जब मानव-मस्तिष्क ही वस्तु-जगत् का अंग बन चुका है, तब किसी 'बोध' की कल्पना अवैज्ञानिक ही नहीं, निरर्थक भी है। किसी 'अ' की पुष्टि का विचार फिर कैसा? उसके जीवित रखने की कैसी भावना, कहाँ की सिद्धि और कहाँ का प्रतिपादन देने का सुख? यह बस कोरी बकवास है।

मनुष्य मस्तिष्क और लोहार की भट्ठी की प्रज्वलित अग्नि दोनों ही एक समान हैं। यदि वह आग यह 'बोध' अनुभव करे कि उसने, लोहे को गलाकर ताँगे की पहिया का हाल बनाकर अपनी अनुपयोगिता के प्रति विद्रोह करके, समाज को 'आत्मदान' किया है और चूँकि उस 'आत्मदान' से समाज का कल्याण भी हो रहा है, इसलिए वह सुख पा रही है, तो कैसा होगा? क्या यह पागलों की बात न होगी? यह कोरी तुलना

नहीं है। वस्तु-धर्म के आधार पर ऐसा उदाहरण दिया गया है। आग और मस्तिष्क के वस्तु-तत्त्व में विभिन्नता है, लेकिन दोनों ही भौतिक नियमों से परिवेष्ठित हैं।

तुलसी के युग में 'स्वांत: सुखाय' की भावना देखी जा सकती थी, क्योंकि तब विज्ञान अविकसित था। किन्तु इस सदी में अज्ञेय को इसकी चर्चा करते देखकर अत्यन्त आश्चर्य होता है। बजाय सुलझाने के अज्ञेय ने उलझन पैदा कर दी है। इसमें कोई सार नहीं है।

'आत्मदान' और 'आत्मबोध' दोनों ही व्यक्तिवाद की मिथ्या उपज हैं। अज्ञेय घोर व्यक्तिवादी हैं। उन्हें इस व्यक्तिवाद से मुक्ति पानी चाहिए।

कला का उद्देश्य जीवन का उद्देश्य है। जीवन का उद्देश्य न 'आत्मदान' है, न 'आत्मबोध'। उसका उद्देश्य है वर्गहीन समाज और राष्ट्र की स्थापना करना, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को सम्पूर्ण स्वतंत्रता रहेगी कि अपनी योग्यतानुसार काम कर उसी के अनुरूप फल पाये। इस उद्देश्य के अतिरिक्त कोई दूसरा उद्देश्य नहीं है। कला को इसी उद्देश्य से प्रेरित होना है, उसका कोई अन्य उद्देश्य नहीं हो सकता।

अज्ञेय ने गलती यह की है कि असली उद्देश्य को छोड़कर उन्होंने उद्देश्य के सफल होने के उपरान्त की संतोष की भावना को ही उद्देश्य मान लिया है। ऐसा करना अनुचित है। सारा बखेड़ा इसी गलती से खड़ा हो गया है। स्तालिनग्राड की रक्षा के समय जब वहाँ के वीर सैनिकों ने प्राण की बाजी लगाकर, जर्मनों का सामना किया था, तो उन्होंने आत्मबोध से प्रेरित होकर नहीं किया था, न ही उसमें 'आत्मदान' का भाव था। उन लोगों ने समस्त सोवियत-संघ के सामूहिक जीवन से प्रेरित होकर सामना किया था और विजय पायी थी।

संतोष का सुख–'आत्मबोध' उद्देश्य के सफल होने के बाद की चीज है। वह किसी कला में निहित नहीं होता।

फलत: हिन्दी का कल्याण इसी में है कि अज्ञेय के 'आत्मदान' और 'आत्मबोध' को रसातल भेज दिया जाय। 'आत्मदान' और 'आत्मबोध' कलाकारों, अथवा सुधरे दिमाग वाले मनुष्यों के लिए नहीं है। उनको तो विकृत व्यक्तियों के लिए ही छोड़ देना चाहिए।

❑

पूँजीवादी साहित्य से जन-साहित्य की ओर

इस समय हिन्दी-साहित्य में गतिरोध उत्पन्न हो गया है। यह गतिरोध किन्हीं दैविक परिस्थितियों से नहीं जन्मा। वर्तमान भारत की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों ने ही इसे पैदा किया है। देश के स्वतंत्र होते ही यहाँ की शोषित और मर्दित जनता सबल वेग से उठ खड़ी हुई है और अपने जीवनाधिकारों की सही माँग लेकर सामने आयी है। वह केवल सामाजिक समता ही नहीं चाहती, केवल पेट भर सकने और कमा सकने के अवसर ही नहीं चाहती, केवल शिक्षा-प्रसार ही नहीं चाहती, और न केवल दवाखाने, विश्वविद्यालय और न्यायालय ही चाहती है। इनके अतिरिक्त वह जमींदारी का नाश चाहती है और भूमि को अपनाकर किसानों को ही देना चाहती है। देश के शोषण-केन्द्रों के रूप में चलनेवाले समस्त मिलों-कारखानों को राष्ट्र की सम्पत्ति बनाकर वह उनपर सार्वजनिक हित की रक्षा के लिए पूर्ण अधिकार चाहती है कि उनमें आवश्यक जीवनोपयोगी वस्तुओं का ही उत्पादन किया जाय और अभी तक होनेवाले अतिरिक्त मूल्य के अपहरण का सब प्रकार से नाश कर दिया जाय। यही नहीं, जनता चाहती है कि शासन-सत्ता पूँजीवादियों, जमींदारों, धर्माधिकारियों और तुच्छ प्रतिक्रियावादियों के हाथ से तुरन्त ही छीन ली जाय और श्रमिकों और किसानों के सुपुर्द कर दी जाय। जनता यह जान गयी है कि श्रमिक ही, किसान ही उत्पादन करते हैं और उन्हीं के उत्पादन पर समाज तथा राजनीति का निर्माण होता है। और यह भी उसे पूर्णतया व्यक्त हो गया है कि वही नेतृत्व करके वर्गहीन समाज की अवतारणा कर सकती है।

ऐसी प्रसरित जन-चेतना के उभार से देश का समस्त जीवन उथल-पुथल में पड़ गया है। पूर्व प्रचलित मान्यताएँ अस्वीकार होने लगी हैं, समाज-व्यवस्था विध्वंस होने लगी है, वर्ग हितों की रक्षा के ध्येय से द्वन्द्व प्रारम्भ हो गया है और आर्थिक दृष्टिकोण से ही देश का नव-निर्माण हो, ऐसी बात कही जाने लगी है।

इसका परिणाम यह हुआ है कि अब जनता का विश्वास उस संस्कृति, समाज और साहित्य में नहीं रहा, जिसे वह अबतक जीवित रखे रही है। वह पहले की संस्कृति को किन्हीं परिस्थितियों की कृति समझती है, वैसे ही समाज को भी उन्हीं परिस्थितियों की कृति समझते हैं, और साहित्य को भी। वह ऐतिहासिक दृष्टिकोण से संस्कृति, समाज और साहित्य की परख करके इस निष्कर्ष पर पहुँच चुकी है कि उन परिस्थितियों के न रहने पर उस समाज, उस संस्कृति और उस साहित्य का रहना भी अमानुषिक है।

किन्तु वह अपनी परम्परा से अर्जित संस्कृति और साहित्य का अनादर नहीं करती। वह उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करती है और उनकी समस्त शक्तियों के विकास को एक प्रगति के रूप में देखती है। वह उनके निर्माताओं के प्रति हृदय से श्रद्धांजलि भी अर्पित करती है।

इसलिए आज की बदली परिस्थितियों में जनता समाज, संस्कृति और साहित्य को भी जीवनानुरूप बदलना चाहती है, क्योंकि वह यह पूर्णतया जानती है कि साहित्य वस्तु-जगत् से ही उसकी प्रक्रिया के रूप में प्राप्त होता है और वही समाज को प्रभावित भी करता है और स्वयमेव भी उसी समाज से प्रभावित होता है।

यही बात आज साहित्य में भी स्पष्ट लक्षित होती है। उभरी हुई जनता, जाग्रत-जीवन के नारे लगाती हुई, अपने हाथ-पैर के बंधनतोड़कर, शोषण की दीवारें ढहाती हुई, अपने जीवन की वास्तविक प्रगति का साहित्य चाहती है, जो उसका साथ उसी तरह दे जैसे उसके अपने हाथ-पैर उसका साथ देते हैं। वह कवियों से, लेखकों से उसके जीवन का यथार्थ-चित्रित सबल साहित्य माँगती है और कहती है कि वे लोग काल्पनिक स्वर्ग-भवनों से निकलकर भौतिक आवश्यकताओं को समझें और समझकर ही नवयुग के साहित्य का श्रीगणेश करें। कुछेक कवि-लेखक तो, उसकी इस माँग में सार्थकता देख कर, उसका समर्थन करते हैं और नव-युग का साहित्य भी तत्परता से रचते हैं। किन्तु लेखकों और कवियों की एक बहुत बड़ी जमात आवश्यकतानुकूल साहित्य रचने का विरोध करती है और अपने को जीवन-सैनिकों की टोली के समकक्ष आसीन किये जाने में महान् आपत्ति और क्षति देखती है। यह जमात कहती है कि मनुष्य का हाथ-पैर बनकर साहित्य अपनी साहित्यिकता खो देता है, वह केवल पेट भरने, जीवकोपार्जन करने तथा रक्षा और आक्रमण करने तक ही रह जाता है। तब उसमें अलौकिक आनन्द की उपलब्धि हो जाती है। न उसमें किसी सत्य के दर्शन होते हैं, न किसी सौन्दर्य की छवि झलकती है और न ही शिव को प्रश्रय मिलता है।

अतएव दो विरोधी प्रवृत्तियाँ एक-दूसरे की प्रतिद्वन्द्वी होकर आज साहित्य-क्षेत्र में कार्यरत दिखायी देती हैं। एक प्रवृत्ति वर्तमान जीवन को सर्वांगीण रूप से साहित्य में व्यक्त होने देने की महत्ता ही स्वीकार करती है और अब वैसी साहित्यता की अवहेलना करने में कोई अशुभ नहीं देखती। दूसरी प्रवृत्ति साहित्य की ही महत्ता स्वीकार करती है और जीवन को उपेक्षित किये रहने में कोई अशुभ नहीं देखती। एक जीवन को प्रमुखता देती है तो दूसरी साहित्य को। एक साहित्यता को गौण समझती है, तो दूसरी जीवन को।

अब यह विचार करना है कि वास्तव में जीवन और साहित्यता में प्रतिद्वन्द्विता है अथवा नहीं; इतिहास किस पक्ष की सबलता स्वीकार करता है; साहित्य की प्राप्ति ही लेखक की जीवन-सिद्धि है अथवा व्यक्तिगत जीवन को विकसित करके, सार्वजनिक जीवन में समाप्ति करने में ही उसकी सम्पूर्ण सार्थकता है।

यह ध्रुव सत्य है कि पहले जीवन हुआ तब साहित्य। यह भी चिर सत्य है कि जीवन से ही साहित्य जन्मा है। निस्संदेह इसप्रकार की कई धारणाएँ भी हैं कि साहित्य दैवी-प्रेरणा से प्राप्त हुआ है, स्वयं ईश्वर ने उसे श्रुति के रूप में मानवजाति को दिया है, और वह जीवन से पवित्र ही नहीं, अति पवित्र है, किन्तु यह धारणाएँ असत्य हैं। इनके आधार पर साहित्य की महत्ता और श्रेष्ठता जीवन की तुलना में कदापि नहीं मानी जा सकती।

यह नहीं, मानव-जीवन का समस्त इतिहास इंगित करता है कि जीवन के विकास के साथ-साथ क्रमशः साहित्य भी विकसित हुआ है। प्रत्येक परिवर्तन-काल में साहित्य में परिवर्तन हुआ है, जिसके चिह्न स्पष्टतया लक्षित होते हैं।

आरम्भ में मनुष्य ने प्रकृति पर विजय नहीं पायी थी, वह उसे अपने से विलग एक भिन्न सत्ता के रूप में देखता था, जिसकी नियामक कोई अज्ञात शक्ति थी। अतएव मनुष्य ने ईश्वर की कल्पना की और उसी की उपासना का साहित्य उसने उस समय रचा। कालान्तर में जब उसने प्रकृति पर विजय प्राप्त करना सीख लिया, तब उसने अपने समूह के पराक्रमी वीर को धरती का अधिपति माना। इसप्रकार ईश्वर के प्रतिनिधि मानव के पराक्रमी पुत्र का साहित्य तैयार होने लगा। राजवंशों की स्थापना हुई, उनके उत्तराधिकार के नियम बने। राजा और प्रजा का धर्म-सम्बन्ध निरूपित हुआ। दण्ड-विधान बना। एक मनुष्य-पुत्र की धरती अनेक मनुष्य-पुत्र जोतने-बोने लगे और उस पर होनेवाले विजातीय आक्रमणों से उसकी रक्षा करने के लिए ही वह युद्ध में प्रविष्ट होने लगे।

उस युग के साहित्य में केवल राज्य-वंशों का साहित्य प्राप्त होता है। उनका वासना-विलास, उनके भ्रमण और उनके आक्रमण आदि का सजीव वर्णन भारतीय कविओं की वाणी में भरा पड़ा है। और चूँकि राजा की सत्ता जनता की सत्ता से ऊपर थी, इससे राजा-सम्बन्धी साहित्य अभिजात-वर्ग का ही साहित्य रहा। उसमें सार्वजनिकता न आ पायी। वह केवल कुछेक व्यक्तियों का ही साहित्य बन सका। इसलिए उसमें कल्पना अधिक, विलास और वासना अधिक, उक्ति-वैचित्र्य अधिक, सरसता अधिक, अलंकृतता अधिक और संगीतात्मकता अधिक रही।

महाकवि कालिदास का काव्य इसका साक्षी है। इन्हीं का नहीं, अन्य प्रतिष्ठित गण्यमान्य कवियों तक का साहित्य इसका प्रमाण है। सबमें वही साहित्यकता मिलती है, जिसे दूसरे शब्दों में रसात्मकता, अलंकृतता और उक्तिवैचित्र्य आदि नाम दिये जा सकते हैं। कोई माने या न माने, यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उस युग का समस्त साहित्य तब की समाज-व्यवस्था की आर्थिक परिस्थिति की ही प्रक्रिया का साहित्य है। एक राजा होता था। कवि उसके आश्रित रहते थे। कवि-कर्म इसी में सिद्धि प्राप्त करता था कि अपने आश्रयदाता की रुचि के वर्णन और भाव का काव्य रचे। उस समय कवि यह सोच नहीं सकता था कि जनता का साहित्य लिखे। राजा ही शक्तिशाली था।

उसका जन-विरोधी रूप प्रकट ही नहीं हुआ था और न सामने दिखायी ही देता था। फलत: कवि राजदरबार का साहित्य ही बनाते थे।

तब के साहित्य के मापदण्ड भी यही घोषित करते हैं। महाकाव्य में केवल राजा के ही निरूपण का नियम था। साधारण जन का चित्रण नियम-विरुद्ध था। इसलिए तब के प्राय: सभी कवि, चाहे वह देश के किसी भी भाग के राजा के आश्रित रहे हों, एक ही प्रकार की साहित्यिकता का प्रयोग करते थे। यह बात दूसरी है कि अपनी प्रतिभा से कोई-कोई कवि अधिक अच्छा काव्य देते थे और अन्य सामयिक कवियों से बाजी भी मार ले जाते थे। परन्तु मूल रूप में उन सबके काव्य-प्रयोग एक ही साँचे में ढले होते थे। विभिन्न राजाओं के आश्रित विभिन्न कवियों की वाणी के काव्य में एक ही प्रकार के प्रयोग की समानता के कुछ कारण इस प्रकार है :–

(1) राजाओं में–चाहे वह छोटा हो अथवा बड़ा–यह भावना सदा ही रही है कि वह किसी दूसरे राजा से किसी तरह कम नहीं है।

(2) हर राजा की आर्थिक नीति वही रही है, जो दूसरों की थी।

(3) हर राजा में उसी ईश्वर का अंश था, जो औरों में था।

(4) हर राजा धरती का मालिक था और उत्पादन का श्रेय–उसके काम न करने पर भी–उसी को था।

फिर उस समय कवि को व्यक्ति-स्वातंत्र्य राजा से प्राप्त होता था और तब वह अपनी शक्ति पूर्णतया सामंती-विकास के चित्रण में ही व्यय करता था। वह मुक्त गगन में उड़ता था; कल्पना-लोक में विचरण करता था; प्रकृति के निर्झरों से संगीत सुनता था और एक ऐसे अनूठे काव्य की सृष्टि करता था, जो असाधारण होता था। यदि कवियों को यह व्यक्ति-स्वातंत्र्य प्राप्त न होता, तो वह कदापि अलौकिक आनन्द का काव्य न देते।

काव्य का यह अलौकिक आनन्द सामंती व्यक्ति स्वातंत्र्य का ही साहित्यिक रूप था, जिसकी सदा से सराहना होती आयी है। वास्तव में तब कवि, राजा और प्रजा दोनों के सामने; सामंत के व्यक्ति-स्वातंत्र्य के परम विकसित रूप का ही प्रतीक होता था। इसलिए तब जीवन और साहित्यता में प्रतिद्वन्द्विता थी ही नहीं। साहित्यता सामंती जीवन के मुक्त रूप की ही प्रतीति थी। और उसी साहित्य की प्रीति ही कवि-जीवन की सर्वोपरि साधना और सिद्धि थी। कवि-जीवन की समाप्ति सार्वजनीन जीवन में न थी, और न हो सकती थी।

यही बात धर्माश्रयी कवियों के बारे में भी पूर्णतया लागू होती है। वहाँ भी, धर्माधिकारी धर्मानुयायियों पर शासन करते रहे और धर्म को, धर्म-स्वातंत्र्य के आधार पर, विकसित करने का कार्य-भार कवियों पर ही छोड़ते रहे। इसलिए लगभग सब राजाश्रयी और सब धर्माश्रयी कवि एक-सा ही काव्य देते रहे और एक-सी ही साहित्यता का निरूपण करते रहे। लेकिन यह बात याद रखने की है कि यह साहित्यता

सामंती अथवा धर्म के मानसिक विकास के ही रूप में प्रकट होती थी, कवि के व्यक्तित्व अथवा मानसिक विकास के रूप में नहीं। तब भी कवि के व्यक्तित्व अथवा मानसिक विकास का स्वयमेव कोई मूल्य नहीं होता था। कवि सामंती अथवा धार्मिक संस्कृति का एक सफल गायक मात्र होता था। इसी से वह आदृत होता था। कवि का व्यक्तित्व समाज के सामंती और धार्मिक व्यक्तित्व का ही अंश था।

मुगल साम्राज्यवाद सामंती-प्रथा का ही एक बृहत् रूप था। इसीलिए उस युग में भी वही साहित्यता बनी रही, जो सामंती युग में थी। कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। एक ओर उन्हीं साहित्य-सिद्धान्तों के आधार पर सामंती विकास का काव्य रचा जाता रहा, तो दूसरी ओर उन्हीं सिद्धान्तों के आधार साहित्यता व्यक्त हुई तो भूषण में सामंती राष्ट्रीयता व्यक्त हुई। सूर, तुलसी और भूषण का काव्य उसके निजी व्यक्तित्व का काव्य नहीं था। वास्तव में उन्होंने अपना काव्य निजी चित्रण के लिए रचा ही नहीं था।

आगे चलकर जब धर्म और सामंती राष्ट्रीयता से जन-जीवन को बल प्राप्त होना बन्द होने लगा और विषम परिस्थितियों ने मनुष्यों को परेशान कर दिया, तब धार्मिक और सामंती साहित्यता की तुष्टि का साधन बने रहने में समर्थ नहीं हो सकी। राष्ट्रीय साहित्यता जो शिवा जी और छत्रसाल की वीरता बखान करती थी, रीतिकालीन कवियों के हाथ में पड़कर नायक-नायिका भेद के निरूपण में लग गयी। धार्मिक साहित्यता, जो राम और कृष्ण का चरित्र अंकित करती थी, जन-संत-कवियों के हाथ में पड़कर भक्तों की भावना का निरूपण करने लगी।

पहले-पहल इस रूप में साधारण जन-साहित्य के दर्शन हमें होते हैं। संत-कवियों का शास्त्रीय ज्ञान अल्प था। वे धार्मिक तथा साहित्यिक विद्वत्ता के कायल न थे। वे दिन-प्रतिदिन धर्म में पोलखाता-ही पोलखाता और साहित्यता में जीवन-पक्ष की न्यूनता-ही-न्यूनता देखते थे। इसी से वे साधारण जन-जीवन का वह पक्ष अपनी कविताओं में व्यक्त कर सके, जो न धर्म में स्थान पाता था और न साहित्यता में। उनका वह पक्ष जीवन का सबल अनुभवी पक्ष होता था। दैनिक जीवन की घटनाओं, परिस्थितियों और साधारणजन के दृष्टिकोण से वे प्रथम बार प्रभावित हुए। अत: सर्वप्रथम साहित्य में, सामूहिक जन-समाज की प्रक्रिया ही संत-कवियों की कविताओं में व्यक्त हुई। कबीर का अधिकांश काव्य इसी कोटि का है।

इसप्रकार हम एक ही नतीजे पर पहुँचते हैं। वह यह है कि कवि का निजी व्यक्तित्व अपने-आप में, न धर्म में, न साहित्य में, कोई मूल्य नहीं रखता। उसका मूल्य इसी में पाया जाता है कि वह जन-परिधि में अपने व्यक्तित्व के विन्दु को सम्मिलित और विसर्जित कर दे।

पद्माकर, मतिराम, बिहारी और देव आदि रीतिकालीन कवियों की रचनाओं में यह स्पष्ट देखने को मिलता है कि अमूर्त भावों का सृजन और उनकी अभिव्यंजना ही उन कवियों के काव्य-धर्म हो गया है। एक ओर वह अपने आश्रयदाताओं का गुणगान

करते थे, तो दूसरी ओर बहुलता के साथ स्फुट छंद ही लिखते थे, जिनमें न राजा का वर्णन होता था, न राम-कृष्ण का वर्णन होता था—यदि होता भी था, तो वह मानव को व्यक्त करने के लिए बहाने के रूप में होता था, और न भौतिक परिस्थितियों का ही चित्रण होता था।

वे अपने स्फुट छंदों में केवल नौ रसों के नव-नव रूपों का शाब्दिक चित्रण और नायक-नायिका-भेद का निरूपण करते थे। ऐसा इसलिए होता था कि उन्हें साहित्यता में अधिक विश्वास था और उनकी परम्परा से वह पूर्णरूपेण परिचित भी थे। साथ ही, जन-साधारण के जीवन को वे विधिविधान के आधार पर छोड़कर उससे विमुख रहने में ही अपना काव्य-धर्म समझते थे। उनकी यह 'साहित्यता' इसलिए अमूर्त भावों को व्यक्त करने में अपनी सार्थकता समझती थी कि उसे यह भली-भाँति विदित था कि 'बिना प्रभु की मरजी के एक पत्ता भी नहीं हिलता।' अतः रीतिकालीन कवि, भौतिक परिस्थितियों से मुक्ति ग्रहण करके, केवल काव्य-कौशल दिखाने में रत रहते थे। जन-संत-कवियों की लीक पर भी वह इसीलिए नहीं चल सके।

सर्वप्रथम आधुनिक युग की कविता रचने का श्रेय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को है। वह अंग्रेजों की अर्थनीति से विचलित हुए, देश के अपहरण से विह्वल हुए और जन-जीवन की चिन्ता से चिन्तित हुए। एक वही ऐसे थे, जिनको, साहित्य में, भौतिक-प्रक्रिया के व्यक्त करने का, सब श्रेय दिया जा सकता है। वह न राम-कृष्ण की ओर भरपूर झुके, न रसवादी नायक-नायिका-भेद के अभिव्यंजन की ओर पूरी तरह अग्रसर हुए और न काल्पनिक काव्य-विलास में ही पूर्णतया लिप्त हुए। जन-जीवन की भौतिक प्रक्रिया ही उनके कवि-जीवन की प्रमुख प्रक्रिया हुई। वह जन-संत-कवियों की भौतिकवादी प्रक्रिया के पूत थे, यद्यपि वह स्वयं संत नहीं थे और संतवादी रचना नहीं करते थे। जन-संतों ने सूर और तुलसी की परम्परा को भौतिक धरातल पर उतारा था, किन्तु धर्म की गूढ़ धार्मिकता के विरोधी मोर्चे के रूप में ही उन्होंने ऐसा किया था। जन-संतों का इतना ही काम था और वह उसे कर रहे थे।

उस विरोधी मोर्चे से गूढ़ धार्मिकता का मूलोच्छेदन करके वह आर्थिक आधार पर आश्रित जगत् की प्रक्रिया के क्षेत्र में पदार्पण कर सकने में असमर्थ थे। भारतेन्दु ने यह काम पूरा किया। द्विवेदी-काल में मैथलीशरण ने 'भारत-भारती' लिखकर उस काम को और उभारा। इतिवृत्तात्मक रचनाओं की यही सफलता है कि उनमें दैनिक जीवन की परिस्थितियों का चित्रांकन होने लगा। इन रचनाओं ने एक ओर 'साहित्य' की परम्पराओं का त्याग किया और दूसरी ओर उनके स्थान पर भौतिक जीवन की स्थूल समस्याओं की प्रक्रियाओं का सर्वबोध निरूपण किया।

प्रथम महायुद्ध के बाद हिन्दी में छायावाद और रहस्यवाद आया। इसका विकास भारतेन्दु की परम्परा से बिल्कुल भिन्न था। इसका मूलस्रोत 'व्यक्तिवाद' में था। वास्तव में हिन्दी का रसवाद भी 'व्यक्तिवाद' का कीटाणु न था। किन्तु कुछ लोग मोहवश

रसवाद और व्यक्तिवाद दोनों को एक कह देते हैं। हिन्दी का यह व्यक्तिवाद पूँजीवाद के विकास के साथ अवश्य आया, किन्तु क्या यह पूँजीवाद की प्रक्रिया कहा जा सकता है?

हिन्दी के विद्वान् इस प्रश्न पर एक मत नही हैं। कोई कहता है कि यह पूँजीवाद के व्यक्ति-स्वातंत्र्य की देन है। कोई कहता है कि वह 'विशुद्ध साहित्यता' का साहित्यिक आन्दोलन मात्र है। कोई कहता है यह विदेशी 'वाद' है, जो हिन्दी में आया है। किन्तु यह बात तो सही मालूम होती है कि इन तीनों में आंशिक सत्यता है। कोई अकेला मत स्वीकार योग्य नहीं है। जो भी हो, यह छायावाद-रहस्यवाद 'व्यक्तिवाद' के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसमें कवि के एकान्त की मानसिक प्रक्रिया का ही व्यंजन हुआ है। न इसमें समाज की सीधी प्रक्रिया है, न इस समाज की अर्थनीति की सीधी प्रक्रिया है और न देश-काल की स्थूल दिशाओं की सीधी प्रक्रिया है। न धर्मवाद का निरूपण है और न लोकवाद का निरूपण है। यहाँ-वहाँ प्रकृतिवाद, प्रेमवाद, और आसक्तिवाद का चित्रण जरूर मिलता है। किन्तु वह सब कवि के मस्तिष्क की एकमात्र उपज के रूप में ही है। उपचेतन और अवचेतन के स्तर ही उसमें झंकृत होते हैं। फिर इस कविता की प्रक्रिया भौतिक न होकर केवल मानसिक प्रक्रिया होती है। पढ़ने वाला बाह्यजगत् का दर्शन नहीं कर पाता; केवल एक ऐसे लम्बे चित्रपट के दर्शन करता है, जिसपर व्यक्ति के मस्तिष्क के रंगीन, धुँधले, रागात्मक और संगीतात्मक तन्तुओं की शाब्दिक वर्ण-रेखाएँ मात्र बनी होती हैं।

निस्संदेह छायावादी कवि काव्य-साधना के क्षेत्र में उतने ही स्वतंत्र थे, जितने स्वतंत्र पूँजीपति होते हैं। पूँजीपति को अपनी धन-सम्पत्ति लगाकर कारखाने कायम करने की स्वतंत्रता होती है। मनमाने भाव से अतिरिक्त श्रम का अपहरण करने की भी उसे छूट होती है। जो कसर रह जाती है, वह मनमाना मुनाफा कमाने की आजादी से पूरी हो जाती है। वह वही वस्तुएँ बनाता भी है, जो उच्चवर्ग के उपभोग और विलास का साधन बनती हैं। सर्वसाधारण के लिए सामूहिक हित को सामने रखकर, उपयोगी वस्तुएँ वह नहीं बनाता, न ही सर्वसाधारण के हितों को देखते हुए उसकी मुनाफाखोरी पर कोई रोक-थाम होती है—बस, वह होता है और श्रम रूपी उसकी कविताकामिनी होती है—अपनी पूँजी के बल पर आजादी के साथ जिसका वह उपयोग करता है।

इसी प्रकार छायावादी और रहस्यवादी कवि भी अपनी व्यक्तिगत 'प्रतिभा' की पूँजी लगाकर वह रचनाएँ प्रेषित करते हैं, जो अल्पसंख्यक शिक्षित वर्ग का स्वाद बनाती हैं। उनसे जीवन और जन-साधारण की तुष्टि नहीं होती। यही कारण है कि पंत जी महाराज और श्रीमती महादेवी वर्मा 'लघुलोक' के निवासियों की अभिरुचि का साहित्य दे सकीं, 'बृहत्-लोक' के निवासियों की अभिरुचि का नहीं। यह सत्य ही है चाहे जैसा तिक्त हो। छायावादी रचनाएँ 'लक्ज़री गुड्स' की श्रेणी से आगे बढ़ने में अधिक समर्थ नहीं हो सकीं। 'लक्ज़री गुड्स' का भी हमारे जीवन में एक स्थान है,

उनकी उपेक्षा करना भी हम नहीं चाहते हैं, लेकिन साथ ही यह भी हम नहीं चाहते कि 'बाजार' इन्हीं से पटकर रह जाये और जीवनप्रद तथा ठोस सामग्री के लिए स्थान ही न रहे—जैसा कि आजकल हो रहा है, व्यवसाय के क्षेत्र में भी और साहित्य के क्षेत्र में भी।

बात केवल इतनी ही नहीं है। वस्तु-जगत् में साम्राज्यवाद और साहित्य-जगत् में छायावाद और रहस्यवाद दोनों एक-दूसरे के सगे भाई मालूम होते हैं। दोनों की नीति अधिकाधिक प्रदेशों पर अधिकार जमाने की है। वस्तु-जगत् का साम्राज्यवाद नये देशों पर आक्रमण करता है और उन्हें जीतकर वहाँ अपना शासन स्थापित करता है। साहित्य-जगत् का साम्राज्यवाद चेतन-उपचेतन और अवचेतन प्रदेशों पर अधिकार जमाकर अपना एकच्छत्र शासन स्थापित करता है और अपने इस शासन को कायम रखने के लिए सभी तरह की मोर्चेबन्दी करता है। साहित्य और वस्तु-जगत् दोनों ही क्षेत्रों में आज इस मोर्चेबन्दी के लक्षण स्पष्टत: प्रकट होने लगे हैं। इन लक्षणों को लाख साहित्यिक (छायावादी) आवरणों में लपेट कर भी आँखों की ओट नहीं किया जा सकता।

छायावाद को बहुधा 'साहित्यता' का पर्यायवाची बनाकर पेश किया जाता है। यह माना जाता है कि छायावाद से आगे बढ़ना 'साहित्यता' की हत्या करना है। यह भी कहा जाता है कि छायावाद में ही साहित्य का विशुद्ध रूप व्यक्त होता है, इसी से सारी 'साहित्यता' छायावाद की परम्परा में ही पनपती है, शेष अन्य स्थानों में नहीं। अत: 'साहित्यता' और विशुद्ध साहित्य को छोड़कर किसी प्रकार की रचना करना—अर्थात् साहित्येतर पथों में भटकना—प्रगति का नहीं, वरन् लक्ष्य-भ्रष्ट होने का सूचक घोषित किया जाता है।

वास्तव में 'विशुद्ध साहित्य' और 'साहित्यता' दोनों ही न कभी रहे हैं और न रहेंगे। यह भ्रम है, जो जितनी जल्दी दूर हो, उतना ही अच्छा है। सब साहित्य परिस्थितियों से पैदा होता है और उन परिस्थितियों के बदलने पर एक दूसरी काया ग्रहण करता है। 'आदर्श' साहित्य भी इसीलिए झूठा है। क्योंकि एक युग का आदर्श दूसरे युग का आदर्श नहीं हो सकता।

देश की राष्ट्रीय जागृति ने और जनता के साम्राज्यवाद-विरोधी मोर्चे ने प्रगतिवाद को जन्म दिया। जनता के लिए उपचेतन और अवचेतन मानसिक क्षेत्रों में दौड़ना अपनी शक्ति को नष्ट करना था। उसके सम्मुख रोटी की लड़ाई, कपड़े की लड़ाई, अधिकार की लड़ाई, भूमि की लड़ाई और स्वतंत्रता की लड़ाई थी। तथाकथित 'साहित्यता' और 'विशुद्ध साहित्य' अथवा 'आदर्श साहित्य' का खोखलापन प्रकट होने लगा। छायावाद के कवि पंत भी छायावाद का साथ छोड़ने लगे। पढ़े-लिखे बाबू वर्ग की रुचि भी बदली। व्यक्तित्व की इकाई समाज और देश की इकाई से मिलने लगी। साम्राज्यवादी कवि जनवादी कवि होने लगे।

अत: यह निश्चित ही कहा जा सकता है कि 'साहित्यता' जैसी कोई चीज नहीं है, वह एक भ्रम है। छायावाद की व्यक्तिवादी कविता को भी 'साहित्यता' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि छायावाद परिस्थितियों से जन्मा था। वास्तव में जीवन और उसका साहित्य दो ही चीजें हैं। जीवन के साहित्य में जीवन की प्रक्रिया होती है। उसमें जीवन को बदलने की शक्ति भी होती है। अत: साहित्य को 'साहित्यता' की गुणार्थी संज्ञा नहीं दी जा सकती। लेखक की जीवन-सिद्धि जीवन की प्राप्ति में और उसके निरूपण में है; किसी भी प्रकार की 'साहित्यता' में नहीं।

जीवन ही प्रमुख है और साहित्य उसकी प्रक्रिया और इससे भी आगे बढ़कर उसका एक अस्त्र है। जीवन-निरूपण और उसके मार्ग को प्रशस्त करना ही साहित्य का धर्म है। एकाकी जीवन सामाजिक जीवन नहीं है और न वह कोई मूल्य रखता है। सर्वजनीन जीवन की प्राप्ति और उसकी अभिव्यक्ति ही सच्चे और उत्तम काव्य-साहित्य का गुण है। इसलिए साहित्य तलवार है, ललकार है और जीवन के विकास तथा अभिव्यक्ति का परम उपयोगी अस्त्र है। उसके द्वारा देश, समाज और जीवन का कल्याण होता है। वही वर्तमान गतिरोध को तोड़ने में सक्षम है। व्यक्तिवादी, रसवादी अथवा छायावादी रचनाओं के घुटन टूट चुके हैं और उनका स्थान जीवन का सबल तथा सक्षम साहित्य ले रहा है।

❑

नयी कविता

'नयी कविता' से हिन्दी-काव्य-धारा की एक विशिष्ट रूप-गुण वाली कविता का बोध होता है।

यह विशिष्ट रूप-गुण क्या है? यह एक विचारणीय विषय है।

यदि हिन्दी-कविता की ऐतिहासिक प्रगति को ध्यान में रखकर देखा जाय, तो यह कहना पड़ेगा कि यह 'नयी कविता' छायावादी, प्रगतिवादी और प्रयोगवादी कविताओं से अपने रूप और गुण में अवश्य भिन्न है।

छायावादी कविताओं में तत्कालीन काव्य के स्वभाव से भिन्न स्वाभाव के दर्शन हुए थे। वह तत्सम-बहुल शब्दों से संयोजित और नियोजित थी। वह भावावेश के क्षणों की कृति थी। वह साधारणतया प्रयुक्त होनेवाले छंदों को छोड़कर दूसरे छंदों में लिखी गयी थी। पहले के प्रचलित छंदों में सहजता और स्वाभाविकता नहीं रह गयी थी। वे छंद तुकान्त की अतिशयता से ऊब पैदा करने लगे थे। कहीं अलंकरण करने की प्रवृत्ति अधिक थी, तो कहीं युगीन भावनाओं को, प्राचीन के परिवेश से घेरकर, व्यक्त करने की अभिरुचि अधिक थी। पंत ने ब्रजभाषा के काव्य के सरस स्वर को त्याग कर उसके स्थान पर मधुर और कोमल स्वर वाले तत्सम शब्दों को अपनाया। निराला ने ऐसा नहीं किया। निराला के स्वर में कुछ पुरुषपन, कुछ गम्भीरता, कुछ खड़ापन, और कुछ पुरुषत्व का मार्दव था। प्रसाद की भाषा में मद, रंग और संस्कृति-काव्य-परम्परा में लिखे हुए काव्यों की कलाकारिता थी। महादेवी के गीतों में रूप का निरूपण, प्रकृति की चित्रण, हृदय का अभिव्यंजन और अनुभूतियों का आरोह और अवरोह असाधारण रूप से परिष्कृत और पारिमार्जित शैली में व्यक्त हुआ था। उनमें निराशा और मृत्यु का वातावरण भी रंगीन चित्रों की भाँति मनमोहक था।

प्रगतिवादी कविताओं में पहले-पहल यथार्थ और तदनुरूप जीवन की अभिव्यक्ति हुई। इनमें तत्सम शब्दों का कम-से-कम प्रयोग हुआ। छायावाद की आत्मोन्मुखी प्रवृत्ति का स्थान बाह्योन्मुखी प्रवृत्ति ने पाया। मद और रंग अप्रतिष्ठित हुए। आशा और निराशा का स्वरूप भी बदला। जीने की चाह का और वर्ग-भेद का निरूपण हुआ। इनमें राजनीति का पुट आया। कविता साधारण जन के कंठ लगी। शैली में यह लय और उसके आवर्तों को लेकर चली। मुक्त छंद आगे आया। कल्पना में खो जाने अथवा पलकों में बन्द होकर सो जाने की लालसा समाप्त हो गयी। नयेपन की तलाश में नहीं, यह स्वस्थ स्वभाव और विचार की तलाश में रही। इनमें असाधारणीकरण नहीं, बल्कि

साधारणीकरण है, जो लय की उन्माद-रेखा पर नहीं चला। असाधारणीकरण, आत्मकुण्ठा और आत्मनिमग्नता का सूक्ष्म संवेदन और निवेदन भी नहीं रहा। प्रगतिवादी कविताएँ देश और काल की पुत्रियाँ कही जा सकती हैं। इन कवियों का दर्शन बाहर से भीतर की ओर जाने और भीतर से बाहर की ओर आने का था– सामाजिकता लेकर। तर्क और विवेक का यहाँ संतुलन और असंतुलन दोनों था। इनमें लोक में लय होने की क्षमता और आकांक्षा बड़ी प्रबल थी।

प्रयोगवादी कविताओं में प्रयोग करने की मात्रा अधिक और सहजता और सरलता की मात्रा कम थी। इनकी प्रयोगशाला मनुष्य के मस्तिष्क में थी। इनमें वह कल्पना भी नहीं थी, जो छायावादी कविताओं की स्वभाव-जन्य विशेषता थी। इनमें वह बाह्योन्मुखी लोकमंगल की भावना भी नहीं थी, जो प्रगतिवादी कविताओं की स्वभाव-जन्य विशेषता थी। इनमें वह रसात्मकता और इन्द्रिय-लोलुपता भी नहीं थी, जो अ-वादीय कविताओं की स्वभाव-जन्य विशेषता थी। शैली के सम्बन्ध में यह रचनाएँ उतनी ही नवीन और अजब थीं, जितनी अपनी विषय-वस्तु के सम्बन्ध में यह नवीन और अजब थीं। इनके छंद भी मुक्त-छंद से भी मुक्त और ताल और तान से भी परे थे। यह सच है कि इनमें वह अस्पष्टता और दुरूहता नहीं थी, जो कि छायावादी कविताओं में पायी जाती थी। फिर भी इनमें असाधारणीकरण अपने आत्म-तुष्टि के रूप में अस्पष्ट और दुरूह होकर विद्यमान था।

अब आती है ''नयी कविता''।

इस ''नयी कविता'' का साध्य अभिव्यक्तीकरण है। यहाँ किसी भी प्रकार का अभिव्यक्तिकरण काव्य समझा जाता है चाहे वह सूक्ष्म का हो, चाहे तरल का और चाहे स्थूल का। कविता की सफलता यहाँ पर पाठक की सहृदयता पर आधारित नहीं रहती। यह अपने-आप में पूर्ण और अपूर्ण समझी जाती है। यह किसी नियम से बद्ध नहीं होती। इनका मूल्यांकन अभिव्यक्तीकरण की सफलता और असफलता पर ही निर्भर रहता है और यह सफलता और असफलता भी कवि की वैयक्तिक होती है। यह भावावेश की कृति नहीं होती और न लोक-कल्याण की कृति होती है। इसमें कल्पना का अभाव, तन्मयता का अभाव और संगीतात्मकता का अभाव होता है। हर एक रचना अपने-आप अलग स्वाभाव रखती है। इसमें पारस्परिक साम्य और स्वरूप की एकता भी नहीं रहती। इस कविता की आत्मा मानव की आत्मा से भिन्न, एक कोई दूसरी आत्मा होती है। इसके लिए कुछ भी वर्जित नहीं है। इसको सबकुछ ग्राह्य है। इसके चित्र सर्वाङ्ग नहीं होते। यह या तो एक शब्द में या एक शब्द-समुच्चय में या एक उपमा में या एक-दो कम्पन में व्यक्त की जाती है। तर्क और विवेक से परे होने के कारण कहीं-कहीं यह वितर्क और अविवेक से आवृत हो जाती है। इसमें तर्क और विवेक यही समझा जाता है, जो अभिव्यक्तीकरण को सहायता पहुँचाता है। यह कहीं लय से चलती है, तो कहीं लय को त्यागकर, गद्य की तरह चलती है। यहाँ प्रकृति और पुरुष दोनों ही अपना अस्तित्व खो देते हैं। वे अभिव्यक्तीकरण में समा जाते हैं।

यह तो हुआ ''नयी कविता'' का, ऐतिहासिक परिपार्श्व में, स्वभाव-निर्धारण।

नयी कविता ऐसी क्यों हुई? यह एक दूसरा प्रश्न है। इसका विवेचन नीचे किया जाता है।

यद्यपि दुनिया छोटी होती चली जा रही है, देश-पर-देश एक-दूसरे से मिलते चले जा रहे हैं और दूरी और समय संकुचित होते चले जा रहे हैं, तब भी मनुष्य मनुष्य से अलग होता चला जा रहा है। परिस्थितियाँ ऐसी हो गयी हैं कि वह आत्म-रक्षा के लिए जीने लगा है। इसी उद्देश्य से वह स्वयं को सब-कुछ समझ बैठा है। वह इकाई बनकर दहाई और सैकड़े को भूल गया है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि मनुष्य अपनी अभिव्यक्ति में ही अपनी सत्ता की महत्ता और सफलता समझने लगा है। यदि इस अभिव्यक्ति के अधिकार का उससे अपहरण कर लिया जाय, तो वह अत्यन्त दीन प्राणी हो जाता है। उसपर इतना सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और अंतर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व का भार आ पड़ा है कि वह अपनी इकाई को लोप होते देख रहा है। फलतः इस उत्तरदायित्व से भाराक्रान्त होकर ही वह आत्मरक्षा में ही अपना कल्याण खोजने में रत है। अतएव अभिव्यक्तीकरण ही एक ऐसा माध्यम है जिसको अपनाकर वह अपनी सत्ता की रक्षा में लगा हुआ है। यही आत्मरक्षा का अभाव ''नयी कविता'' में बार-बार नये-नये रूप में और नयी-नयी शैली से व्यक्त होता है। बेचारा कवि इसलिए आत्माभिव्यक्तीकरण को ही अपना सर्वस्व मान लेता है। यह आत्मरक्षा का असामाजिक रूप है, जो अतीत और वर्तमान को बिसार देने के लिए नहीं, भविष्य को भी विसार देने के लिए, मनुष्य को विवश कर रहा है। इस आत्मरक्षा का सामाजिक स्वरूप भी है, किन्तु वह शक्तिशाली विश्वविख्यात व्यक्तियों ने अपना लिया है। वह आज का कवि नहीं पा सका। आज का कवि शक्तिहीन, निराश्रित और निष्क्रिय है। अतएव वह असामाजिक स्वभाव को ही आत्मरक्षा में आरोपित कर चुका है। ऐसी दशा में नये कवि की 'नयी कविता', यही होगी जो वह आजकल लिख रहा है।

❑

नयी कविता : विवेचन

''नयी कविता'' के समर्थकों का कहना है कि उसमें उन मनुष्यों के भावों, विचारों और स्पन्दनों की अभिव्यक्ति होती है, जो पूर्वाग्रहों से मुक्त होते हैं। वे समर्थक पूर्वाग्रहों को ''नयी कविता'' के लिए घातक समझते हैं। वह बताते हैं कि कवि में पूर्वाग्रहों के रहने से ही उसका मानसिक व्यक्तित्व कुंठाओं से ग्रस्त रहता है। उनके मत में पूर्वाग्रही कवि अपनी कविताओं में अपना पूर्वाग्रही व्यक्तित्व आरोपित कर देता है। ऐसे व्यक्तित्व के आरोपण से ही उनकी दृष्टि में कविता कविता नहीं रह जाती, बल्कि पूर्वाग्रहों का निरूपण-मात्र रह जाती है। यदि दूसरे शब्दों में इस सबको सूक्ष्म रूप से कहा जाय, तब कहना पड़ेगा कि ''नयी कविता'' विशुद्ध मानव की कविता है।

बात बड़ी अच्छी है। सुनकर सराहने की तबियत होती है। समर्थकों की जय बोलने की इच्छा होती है।

लेकिन, अगर ध्यान से देखा जाय और तर्क और विचार से काम लिया जाय, तब ''नयी कविता'' के समर्थकों की बात सही नहीं मालूम होती।

सबसे पहले तो यही प्रश्न सामने आता है कि ''नयी कविता'' वाले पूर्वाग्रह कहते किसे हैं, उसकी व्याख्या क्या है?

इसके उत्तर में कहा जाता है कि पूर्वाग्रह से तात्पर्य है मनुष्य का अपने व्यक्तित्व से परे स्थित किसी वाद-विशेष से लगाव, जिसके कारण मनुष्य का अपना व्यक्तित्व दब जाता है और कुचल जाता है और वह वाद-विशेष ही ऊपर उभर आता है। राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति, धर्मनीति, कर्मनीति और लोकनीति सभी इस वाद के अन्तर्गत आ जाती है। इसलिए मुख्यत: इन सब नीतियों से और विचारधाराओं से बचकर ही वह व्यक्तित्व प्राप्त किया जा सकता है अथवा किया जाता है, जो ''नयी कविता'' का सिरजनहार हो सकता है।

निष्कर्ष यह निकला कि पहले समाज से, देश से, विदेश से, युगीन विचारों से समस्याओं और विषमताओं से और अपनी राज्यसभा से और संसद् से, यहाँ तक कि सबसे असम्बद्ध बनिये, तब पूर्वाग्रहों से मुक्ति पाइये और तब नयी कविता लिखिये।

यह तो घोर तपस्या मालूम होती है। ऐसी तपस्या किसी के वश की बात नहीं है। फिर इस कलिकाल में तो इस तपस्या का करना और भी दुर्लभ है।

सबको मालूम है कि ''नयी कविता'' वाले भी ऐसी तपस्या नहीं करते। वह लोग भी किसी-न-किसी प्रकार पूर्वाग्रह से ग्रसित रहते हैं। यह दूसरी बात है कि वह अग्रसित होने का दम भरते हैं।

सबसे बड़ा प्रश्न तो यही है कि क्या ऐसे विशुद्ध व्यक्तित्व की सम्भावना है? क्या समाज के प्रभावों में अछूता रहा जा सकता है? क्या देश-विदेश को समस्याओं से और घटनाओं से असम्पृक्त रहा जा सकता है? क्या अपने चारों ओर होनेवाली घटनाओं से मुँह मोड़कर तकिये का गिलाफ ओढ़ा जा सकता है? क्या बलवती और सतेज विचारधाराओं से अप्रभावित रहा जा सकता है? क्या यह सब जो हो रहा है, वह मनुष्य नहीं कर रहा है? क्या यह सब इसलिए नहीं हो रहा है कि मनुष्य का विकास हो और संसार एक कुटुम्ब और एक राष्ट्र बने।

''नयी कविता'' वालों को इन सब प्रश्नों का उत्तर देना होगा। वे इन प्रश्नों से कतराकर आगे नहीं बढ़ सकते। इन प्रश्नों का उत्तर प्रत्येक मनुष्य के जीवन का उत्तर है। उस उत्तर में ही मनुष्य का वर्तमान और भविष्य निहित है।

मगर वे लोग इन प्रश्नों का उत्तर नहीं देते। वे इनका उत्तर देना अपना धर्म नहीं समझते। वे कवि के व्यक्तित्व और कवित्व के लिए इन प्रश्नों का उत्तर देना आवश्यक कहते हैं। तभी तो वे व्यक्तित्व पर वाद के अथवा पूर्वाग्रह के आरोपण की बात करते हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि विशुद्ध मानव को आधार मानकर उसके अस्तित्व की असम्भाव्य कल्पना करके और एक ऐसी अनहोनी इकाई (व्यक्तित्व) की स्थापना करके किसी भी तरह से ''नयी कविता'' की सम्भावना प्रतिपादित नहीं की जा सकती।

अतएव ''नयी कविता'' को विशुद्ध मानव की कविता कहना और उसका ऐसा प्रतिपादन करना सर्वथा बुद्धि के विपरीत है।

किन्तु शुद्ध मानव की बात को बुद्धि के विपरीत बताने का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि समाजनीति अथवा राजनीति किसी भी कविता को कविता बना सकती है। न समाजनीति कविता है और न राजनीति कविता है। कविता अपनी जगह पर है और यह सब नीतियाँ अपनी जगह पर हैं। यह नीतियाँ पद्यबद्ध होकर भी कविता नहीं हो सकतीं।

कविता व्यक्तित्व से निकलती है। व्यक्तित्व असम्पृक्त या असम्बद्ध नहीं होता। वह इन नीतियों में रहकर, उनमें समाकर, और उनसे विकसित होकर इस योग्य बनता है कि सम्पृक्त और सम्बद्ध कविता की रचना कर सके।

सम्पृक्त कविता वह होती है, जो सबके हृदय में डूबी हुई होती है। उसमें सार्वभौमिकता होती है। उसकी विषय-वस्तु काल्पनिक अथवा आत्म-केन्द्रणी नहीं होती। उसका शिल्प भी लोक-जीवन का शिल्प होता है। वह ऐसा नहीं होता कि जिसकी मुद्रा और भावभंगिमा अबूझ हो।

सम्बद्ध कविता उच्छिन्न न होकर, परम्परा की मूलों से रस लेकर, आसपास के वातावरण से प्रभावित होकर, और अपनी पूरी शाखाएँ फैलाकर नये-नये पत्ते लाती और सुन्दर-से-सुन्दर फूल खिलाती है। उसकी महक में ताज़गी और मोहकता होती है। उसका शिल्प जीवन और प्रकृति के विकासमान शिल्प के समान होता है।

''नयी कविता'' किसी भी प्रकार से सम्पृक्त और सम्बद्ध कविता के अन्तर्गत नहीं आती। वह या तो व्यक्ति-विशेष के मस्तिष्क-विशेष की क्रिया-विशेष का पंक्तिबद्ध ऊँचा-नीचा ग्राफ होती है या तो क्षण-विशेष के प्रयोग-विशेष के तनाव-विशेष का शब्दबद्ध टेढ़ा-मेढ़ा चित्र-मात्र होती है। उस ग्राफ का एक छोर अपने दूसरे छोर का सम्बन्धित छोर नहीं होता। उसके दोनों छोर की दूरी कुण्ठित और खण्डित असम्बद्ध द्वीपों से भरी पड़ी रहती है। उस चित्र का कोई सङ्गठ्ठ3ठ्ठ स्वरूप सामने नहीं आता। उसका एक-एक अंश अलग और अंजान होता है। कहा यह जाता है कि मनोविकार न तो मूर्ति बनकर आते हैं, न इमारत बनकर। वे तो खण्ड-खण्ड होकर आते हैं और खण्ड-खण्ड करके ही व्यक्त किये जाते हैं। मूर्ति के निर्माण में कलाकर की कला युग की चेतना और परम्परा के स्वभाव से प्रभावित हो जाती है। इसलिए मूर्ति का निर्माण कलाकार की नैसर्गिक क्षमता का कृतित्व न होकर उसकी पराभूत क्षमता का कृतित्व होता है। इमारत के निर्माण में एक योजना होती है। इसलिए इमारत का निर्माण कलाकार की मौलिक प्रतिभा का परिणाम नहीं, वरन् आरोपित कृत्रिमता का परिणाम होता है।

मनुष्य के मानसिक विकास का सम्पूर्ण इतिहास इस बात का साक्षी है कि उसकी नैसर्गिक क्षमता खण्ड से प्रखण्ड की ओर और उसकी मौलिक प्रतिभा असम्बद्धता से योजना की ओर जाती है। ''नयी कविता'' के समर्थक जिसे उस क्षमता का ह्रास बताते हैं, वही उस क्षमता की वास्तविक महत्ता है, और जिसे उस मौलिकता का विघटन बताते हैं, वही उस मौलिकता का सार्थक सम्वर्द्धन है। कीड़ों-मकोड़ों की नैसर्गिक क्षमता अवश्य ऐसी है कि वे अपने पास की दुनिया को खण्डों में देखते हैं। वे योजना नहीं बनाते। परन्तु मनुष्य तो ऐसा नहीं है। इसलिए जिस तथाकथित उत्तम तर्क पर ''नयी कविता'' की सार्थकता सिद्ध की जाती है, जब वही नहीं रह जाता, तब उस कविता का महत्त्व ही मिट जाता है।

''नयी कविता'' के समर्थकों का यह भी कहना है कि वह तत्कालीन क्षणों की कृति होती है। वह वर्तमान का स्फुरण और प्रकम्प होती है। वह अतीत से विमुख और भविष्य से उदासीन होती है। वह परम्परा से प्रेरित अथवा प्रोत्साहित नहीं होती। वह स्वयं में सम्पूर्ण होती है। वह कलाकार की होकर भी कलाकार के व्यक्तित्व की नहीं होती। वह तो अपने जन्म देनेवाले क्षण मात्र की होती है।

किन्तु यह स्थापना भी विचार-विहीन है।

कोई भी क्षण अपने आगे-पीछे वाले क्षणों से अलग करके जाना अथवा पकड़ा नहीं

जा सकता। क्षण की सत्ता निरपेक्ष नहीं सापेक्ष है। क्षण का अस्तित्व ही सापेक्षता का प्रमाण है। इसलिए क्षण की तथाकथित कृति भी भूत और भविष्यत से सम्बन्धित कृति होगी। ऐसी कृति निरपेक्ष क्षण की कृति नहीं हो सकती। जैसे क्षण का स्वभाव सापेक्ष है, वैसे ही उस क्षण की वह कृति भी स्वभाव से सापेक्ष होगी। वैसी ही उसमें व्यक्त हुई भावराशि भी निरपेक्ष नहीं, सापेक्ष होगी।

जो क्षण वर्तमान की संज्ञा पाता है, वह क्षण तत्क्षण अतीत हो जाता है। यदि उस क्षण में कृति की गयी, तो वह कृति भी उस क्षण के खिसक जाने पर अतीत की कृति हो जाती है। और यदि वह कृति विनष्ट न की गयी, तो वह भविष्य की भी कृति हो जाती है। सुई का इस क्षण कागज पर रखना इस क्षण का काम है। यही सुई जब बड़ी देर तक कागज पर रक्खी रहती है, तो इसका रखना अतीत का भी काम हो जाता है और भविष्य का भी। ताज को बने हुए सदियाँ बीत चुकी हैं। वह जब बन रहा था, तब उस समय के वर्तमान में बन रहा था और जब वह बनने का समय सरक गया, तब वह अतीत में बना हो गया और जब वह अब भी उसी तरह सुरक्षित खड़ा है और आगे भी खड़ा रहेगा, तब वह वर्तमान और भविष्य में भी खड़ा माना जायेगा।

इसलिए क्षण की कृति की स्थापना बिलकुल गलत है।

इसलिए उस कृति को वर्तमान का स्फुरण और प्रकम्प मात्र कहना भी गलत है।

इसलिए उस कृति को अतीत से विमुख और भविष्य से उदासीन मानना भी गलत है।

इसलिए ''नयी कविता'' अतीत और भविष्य की भी उतनी ही कृति है, जितनी वह वर्तमान की।

इसलिए ''नयी कविता'' के समर्थक यह प्रख्यापित नहीं कर सकते कि उनकी कृति का मूल्यांकन किसी माप-दण्ड से नहीं किया जा सकता और न वह यह घोषित कर सकते हैं कि उनकी कृति स्वयं में सम्पूर्ण और संतुष्ट है।

इसलिए ''नयी कविता'' के अभिभाषक यह भी चिरस्थायी निर्देश निकलवा पाने के अधिकारी नहीं हैं कि उनकी कृति को कलाकार के व्यक्तित्व से अलग की कृति माना जाय अथवा उसे एक क्षण-विशेष की कृति समझा जाय।

''नयी कविता'' का सम्बन्ध नये मानव से है।

किन्तु ''नयी कविता'' के व्याख्याताओं को यह सत्य स्वीकार नहीं है।

वे ''नयी कविता'' को ''लघु मानव'' की कविता कहते हैं। यह ''लघु मानव'' ''लघु परिवेश'' में रहता है।

इस व्याख्याताओं की समझ में मानव कुछ और है, नया मानव कुछ और है, महा मानव कुछ और है, और ''लघु मानव'' कुछ और है।

उनका कथन है कि मानव की कविता मानववादी होती है। मानववादी एक आदर्श का परिपोषक होता है। आदर्श ऊपर से आरोपित होता है। वह आदर्श मनुष्य के व्यक्तित्व का अंश नहीं होता। वह विश्व-बन्धुत्व के भाव को अपनाता है। वह सम्पूर्ण मानवता का 'हिताय' लिए रहता है। उसमें व्यक्ति गौण और मानवता प्रमुख हो जाती है। इसलिए यह ''नयी कविता'' मानव अथवा उसके मानववाद की कविता नहीं है।

उनका कथन है कि नया मानव वह मानव है, जो रूस से चीन में पलकर बड़ा हुआ है। वह एक-दूसरे प्रकार के आदर्श का पक्षधर है। वह आदर्श भी ऊपर से आरोपित है। उस आदर्श में मनुष्य अपनी इकाई खो देता है और राज्य का अंग बन जाता है। वहाँ व्यक्ति को स्वभावानुकूल आत्मचिंतन की स्वतंत्रता नहीं रहती। वहाँ राष्ट्र शीर्ष स्थान ग्रहणकर लेता है। इसलिए यह ''नयी कविता'' नये मानव अथवा उसके राष्ट्र के परिवेश की कविता नहीं है।

उनका यह भी कथन है कि महामानव वह मानव है, जो मानव की कल्पना का मानव है। ऐसा मानव हजारों वर्षों में एक बार आता है। पता नहीं वह आये भी, न भी आये। ऐसी परिस्थित में ''नयी कविता'' महामानव अथवा उसके महापरिवेश की कविता नहीं है।

इस सब से एक यही निष्कर्ष निकलता है कि इन व्याख्याताओं की दृष्टि में मनुष्य के ऐतिहासिक संघर्षशील विकास का कोई मूल्य नहीं है। वह परम्परा और प्रगति दोनों का विरोध करते हैं। वह उसके परिवर्तित हो रहे स्वभाव और तज्जनित भावनाओं और आकांक्षाओं को, और उसके नये विचारों और नये क्रिया-कलापों की उपेक्षा करते हैं। उन्हें उसके निर्माण-कार्य में विश्वास नहीं है।

इस सब से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि ये व्याख्याता लोक-जीवन, लोक-मंगल, लोक-आचार, लोक-निर्माण, लोक-काव्य, लोक-गीत, सुख- दु:ख, और लोक-विज्ञान इत्यादि सब से विमुख होकर जीने-मरने के पक्षपाती हैं।

यह एक बहुत बड़ी विडम्बना है। आश्चर्य होता है इन व्याख्याताओं की बुद्धि पर।

निश्चय ही इन व्याख्याताओं का यह ''लघु मानव'' कितना दीन, कितना दुर्बल, कितना दयनीय, कितना ज्ञान-शून्य, कितना विवेकहीन, कितना कुंठित, कितना पराजित, कितना अपदस्थ, और कितना मूढ़ होगा। तनिक कल्पना तो कीजिये कि यह कितना खोखला अनुभव करता होगा। यह समाज में रहकर भी सामाजिक नहीं बन सकता। यह किसी से सम्पर्क में नहीं आ सकता। यह कोई पुस्तक नहीं पढ़ सकता। यह कोई चित्र नहीं देख सकता है। यह कोई संगीत नहीं सुन सकता। यह किसी कार्य में संलग्न नहीं हो सकता। यह प्रकृति का सौन्दर्य नहीं ग्रहण कर सकता। यह मनुष्य का रूप भी नहीं पहचान सकता। यह तर्क की पद्धति नहीं अपना सकता। यह दर्शन और विज्ञान का अक्षय भण्डार नहीं छू सकता।

ऐसा ''लघु मानव'' कहाँ है और कैसा है? यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है।

चालीस करोड़ की आबादी में तो यह मानव है नहीं। न यह गाँव में है; न शहर में है; न जंगल में है; न पहाड़ों पर है; और न किसी मरु में है।

फिर भी इस ''लघु मानव'' का बखान किया जाता है। इसकी कविता का ढोल बजाया जाता है।

कहते हैं कि यह एक बौद्धिक प्राणी है। यह इस हद तक बुद्धिवादी हो गया है कि वह केवल अपनी बुद्धि पर ही विश्वास करता है और अपने ही भावों और विचारों से उलझा-सुलझा करता है।

कहते हैं कि ''उसकी दृष्टि अन्वेषण की है, परीक्षण की है, तर्कगत अवलोकन और उसके आधार पर परीक्षण और तब एक निष्कर्ष तक पहुँचने की है।''

किन्तु ऐसी बुद्धि भी क्या बुद्धि है, जो उसी का अंत कर दे। बुद्धि वही है, जो ज्ञान-विज्ञानमय है; भावों, विचारों से बनी है; कर्मों से शुद्ध हुई है; और उत्तरोत्तर अंधकार को दूर करती हुई प्रकाश को प्राप्त कर रही है। वह बुद्धि नहीं है, जिसको ''नयी कविता'' के व्याख्याताओं ने बुद्धि कहा है। उनकी बुद्धि तो शून्य में समाहित बुद्धि है। वे समझते हैं कि बुद्धि स्वयंभू है। यह सरासर गलत है।

इसी प्रकार अपने-आप उत्पन्न हुई बुद्धि से अन्वेषण कर सकने की बात भी गलत है। अन्वेषण की क्रिया, परीक्षण की क्रिया, तर्कगत अवलोकन की क्रिया और निष्कर्ष निकालने की क्रिया वही व्यक्ति कर सकता है, जो आदि काल से लेकर आज तक के मानव के इतिहास और उसके विकास में विश्वास करता है और उनसे प्रेरित होता है।

जीवन के सम्बन्ध में अन्वेषण करने का तात्पर्य उसके विकासशील तत्त्वों, नियमों, भावों, विचारों, और क्रिया-कलापों का पता लगाना है। परीक्षण करने का तात्पर्य है उन विकासशील तत्त्वों इत्यादि का समस्त मनुष्यों पर व्यवहार करना और अब उपलब्धियों के आधार पर, निरअपवाद रूप से, यह घोषित करना कि वे अमुक तत्त्व सत्य है। तर्कगत अवलोकन का तात्पर्य भी यही है कि भ्रम को सत्य से अलग करे और जीवन में सत्य की संगति स्थापित करे।

जीवन में सत्य की संगति स्थापित करने का तात्पर्य है मानव को पहचानना; उसको विकसित करना; उसको समस्त मानवता के साथ एक करना, उसके उत्तरोत्तर विकास के पथ को विशद करना, और उसको किसी एक अच्छे आदर्श की प्राप्ति में संलग्न करना।

लेकिन ''नयी कविता'' के व्याख्याताओं का यह लक्ष्य नहीं हो सकता। इस लक्ष्य के होने का अर्थ है ''लघु मानव'' से हटकर किसी दूसरे मानव की ओर जाना.... वह मानव चाहे आदर्श का पुतला हो; चाहे राष्ट्र का एक अंग हो; चाहे स्वप्न का द्रष्टा हो; और चाहे यथार्थ का अगुआ हो।

फिर अन्वेषण, परीक्षण, तर्कगत अवलोकन और निष्कर्ष निकालना भी कोई मूल्य नहीं रखता। जब ''लघु मानव'' को लघु परिवेश में रहना ही है और उसे लघु बने ही रहना है, तब अन्वेषण इत्यादि की सार्थकता ही क्या है? चाहे जो लिखिये, सब ठीक है।

यदि इसपर भी निष्कर्ष निकाले गये और उन निष्कर्षों पर अमल किया गया, तो वह आरोपित जीवन व्यतीत करने के अतिरिक्त और है क्या? ''लघु मानव'' से पलायन करना नहीं तो और क्या है?

''नयी कविता'' के व्याख्याताओं ने जिस आरोपित जीवन के व्यतीत करने की बात की भी और उसे बुरा बताया था, उसी आरोपित जीवन को अपनाना पड़े, यह सर्वथा उनके कथन की पुष्टि के विरुद्ध पड़ता है।

ये व्याख्याता जिसे छोड़कर चले फिर उसे अपनाएँ, यह कैसे सम्भव हो सकता है? कदापि नहीं।

ठीक यही बात परिवेश पर भी लागू होती है। वह न हमेशा बना रह सकता है और न जैसा आज है, वैसा कल रहेगा।

अतएव, ''लघु मानव'' की बात करना, उसमें ''नयी कविता'' को सम्बन्धित करना और वैसा काव्य सृजन करना नितान्त भ्रामक और बुद्धि के विपरीत है।

इन व्याख्याताओं की ओर से एक बात और कही जा सकती है। वह यह कह सकते हैं कि ''नयी कविता'' उन व्यक्तियों की कविता है, जो जीवन-यापन से जुटे हुए, अपने अन्य-विश्वासों से लिपटे हुए, अपना दैनिक कार्यक्रम निभाते हुए जीते रहते हैं और कठिनाई से पथ प्रशस्त करते हैं।

इन व्यक्तियों को लघु इसी अर्थ में कहा जा सकता है कि ये समाज में वह स्थान नहीं पा सके, जो सम्पन्न व्यक्तियों को मिल सका है। इसके अतिरिक्त इन्हें किसी भी अर्थ में लघु नहीं कहा जा सकता। यह तो असंख्य हैं। तमाम दुनिया में फैले हुए हैं। इन्हीं की बहुतायत है। वास्तव में तो ये विशाल हैं, अपनी संख्या और ताकत के बल पर। इनकी मानवता भी लघु है। इन्हीं में एक-से-एक कर्मठ, जागरूक, स्वाभिमानी, स्वत्वाधिकारी, स्वावलम्बी, परोपकारी, आदर्शोन्मुख, दृढ़ प्रतिज्ञा और युग-प्रवर्तक भरे पड़े हैं। इनको लघु कहकर इनका अपमान नहीं किया जा सकता। यह सच है कि आज ये व्यक्ति अपनी पूरी शक्ति का उपयोग नहीं कर पा रहें और न अपना पूर्ण विकास कर पा रहे हैं। फिर भी इन्हें कोई बाँधकर नहीं रख सकता। यह बढ़ रहे हैं। विकास पा रहे हैं। यह जहाँ हैं, वहीं रहने के कायल नहीं हैं। यह कोई असम्पृक्त जीवन नहीं व्यतीत कर रहे हैं। यह लोग भी समाचार-पत्र पढ़ते हैं। देश की चिन्ता में रत रहते हैं। उसकी और अपनी उन्नति चाहते हैं। तर्क और विवेक इनके भी पास है। परम्परा और प्रगति दोनों ही इन्हें प्रेरित करती है। इनका परिवेश दूसरों के परिवेश से अत्यन्त समीप से मिला-जुड़ा है। वह परिवेश भी अपनी लघुता छोड़कर विशाल होता चला चलता है।

यदि यह कहा जाय कि मध्यम वर्गीय बौद्धिक व्यक्ति ये ''लघु मानव'' हैं तो यह कहना भी न्यायोचित न होगा। वह हजारों अनपढ़ों से अधिक विद्या-बुद्धि वाले हैं। उनका जीवन-स्तर अनेकों से अधिक ऊँचा है। वह अधिक सुख-सुविधाएँ पाये हुए हैं। वे किसी प्रकार से लघु नहीं कहे जा सकते। वे तो विकास के पथ पर काफी आगे बढ़े हुए हैं। उन्हें लघु कहकर पीछे नहीं पटका जा सकता। वे वही अन्न खाते हैं, वही पुस्तकें पढ़ते हैं, उसी धूप-हवा में पनपते हैं, उसी प्रकाश में जीते हैं, जो देश की समस्त मानवता को सुलभ है। वे उसी मानवता में हैं, जिसमें सब हैं। विषम परिस्थिति उन्हें उस मानवता से अलग नहीं फेंक देतीं। विषम परिस्थितियाँ उन्हें संघर्ष में रह-रह कर फौलादी बनाती रहती हैं। यह जरूर है कि कुछ व्यक्ति संघर्ष में सफल नहीं हो पाते और कुछ अधिक सफल हो जाते हैं। मगर इस सफलता और असफलता से यह नहीं प्रतिपादित किया जा सकता है कि असफल होनेवाले व्यक्ति ''लघु मानव'' हैं, और मानवता से अलग हैं।

अत: ''नयी कविता'' के व्याख्याता ''लघु मानव'' और उसके ''लघु परिवेश'' के बल पर अपनी कविता का समर्थन कर सकते और न अपनी इस स्थापना के आधार पर अपनी कविता को आगे बढ़ा सकते हैं।

❑

आधुनिकता : नयी कविता–समस्या और समाधान

1. आधुनिकता समस्या है या समाधान?

आधुनिकता समस्या भी है और समाधान भी। समस्या हो चाहे समाधान, दोनों ही निरपेक्ष नहीं हैं–दोनों ही सापेक्ष हैं। समस्या भी जीवन से सन्नद्ध है–समाधान भी। दोनों का महत्त्व जीवन से है। जीवन से विलग न आधुनिकता है न उसकी समस्या–न उसका समाधान। अतएव आधुनिकता का विवेचन जीवन के सन्दर्भ में ही हो सकता है। जीवन से कटकर या काटकर अलग से आधुनिकता पर विचार करना न्यायसंगत नहीं है। आधुनिकता न जीवन-दर्शन है, न कोई बौद्धिक इकाई कि जिसपर सूक्ष्म चिंतन किया जा सके। उसे नाहक ही एक दर्शन के रूप में स्थापित किया जा रहा है–एक स्वयं स्थिति इकाई मानकर विवेच्य ठहराया जा रहा है।

आधुनिकता जीवन के विकास-क्रम की एक आवश्यक स्थिति है, जो दृष्टि से ओझल नहीं की जा सकती। उसको स्वीकार करना पड़ता है। उसके दो रूप होते हैं : 1. विघटन और 2. संघटन। विघटन जीवन के माने हुए मूल्यों को तोड़ता है। संघटन जीवन के जीवित तंतुओं को जोड़ता है। आधुनिक एक ओर अस्वीकृति है, तो दूसरी ओर स्वीकृति। इस अस्वीकृति और स्वीकृति की दूरी में आधुनिकता एक ओर कुण्ठाओं को उभारती है, तो दूसरी ओर अदम्य शक्ति को उद्‌भूत करती है। इसलिए कुण्ठाएँ आधुनिकता का रूप नहीं हैं। वह आधुनिकता का प्रतिफल है। इसलिए अदम्य शक्ति आधुनिकता का रूप नहीं है। वह उसका प्रतिफल है। कुण्ठाएँ परिवर्तित परिस्थितियों की मनोदशा मात्र हैं। उस मनोदशा का जीवन से सम्बन्ध अवश्य है। परन्तु वह सम्बन्ध जीवन के साथ आगे बढ़नेवाला नहीं है। अदम्य शक्ति भी परिस्थितियों की मनोदशा है। वह मनोदशा भी जीवन से संलग्न है। परन्तु वह संलग्नता जीवन के साथ आगे बढ़नेवाली है। अत: कुण्ठाओं से जीवन का सृजन और संवर्धन असम्भव है। अत: अदम्य शक्ति से जीवन का सृजन और संवर्धन सम्भव है। अत: आधुनिकता कुण्ठाओं के रूप में समस्या है। अत: आधुनिकता अदम्य के रूप में समाधान है। अत: समाधान के रूप में ही आधुनिकता के विकास-क्रम की एक मानवीय-स्थिति है।

आज हिन्दी की नयी कविता में जो कुछ अधिक से अधिक सामने आ रहा है, वह कुण्ठाग्रस्त है। वह अनावस्था से प्रभावित और प्रजनित है। वास्तव में वह जीवन की सृजनात्मक शक्ति से शून्य और संवर्धन-शक्ति से रहित है। इसलिए आज हिन्दी की नयी कविता समस्यामूलक है, समाधानमूलक नहीं है। इसीलिए आज हिन्दी की नयी कविता मानवीय मूल्यों के विघटन का आकलन मात्र है। इसीलिए आज हिन्दी की नयी कविता जीवन को जीवन से नहीं जोड़ती—उसको तोड़ती है। यह दशा शोचनीय है।

आज कोई भले ही कह ले कि नयी कविता एक उपलब्धि है, एक सिद्धि है, एक जीवन्त इकाई है, किन्तु वस्तु-स्थिति इसके विपरीत है। वह न उपलब्धि है, न सिद्धि है, और न जीवन्त इकाई। वह खण्डित मानव-मन की खण्डित मनोदशा की खण्डित अभिव्यक्ति मात्र है।

2. क्या आधुनिकता कालबद्ध चेतना है?

आधुनिकता कालबद्ध चेतना है। जैसे समय से परे कुछ भी नहीं है, वैसे समय से परे आधुनिकता भी नहीं है। समय की एक परिधि है। समसामयिकता उस परिधि की एक स्थिति है। उस स्थिति-विशेष में एक विशेष प्रकार की चेतना होती है। उस चेतना का स्वरूप साधारण मानवीय चेतना के स्वरूप से भिन्न होता है। वह भिन्नता असाधारण होती है। चाहे वह असाधारणता कुण्ठित मनोदशा की ओर प्रयाण करे और करती ही चले जाये, चाहे वहीं कहीं रुककर एक ठहराव पा ले और अपनी उसी ठहराव की स्थिति में भाव और भाषा को अपने अनुकूल गढ़ने लगे। दोनों ही दशाओं में असाधारणता अभिव्यक्ति पाती रहती है। दोनों ही दशाओं में मौलिकता वैयक्तिक होती है। वही वैयक्तिक मौलिकता नयी कविता में आधुनिकता का नाम पाती है। इसी दृष्टि से आधुनिकता व्यक्ति-विशेष की विशिष्ट चेतना होती है। और वह चेतना क्षणों की अभिव्यंजना होती है। वह अभिव्यंजना एकांतिक—घोर एकांतिक होती है। वह एकांतिकता समूह-विरोधी, जागरण-विरोधी, जीवन-विरोधी, क्रिया-कर्म-विरोधी और प्रगति विरोधी है। किन्तु एकांतिकता की यह अवस्था अधिक दिन तक जीवित नहीं रहती।

इसी तरह अदम्य शक्ति भी काल-बद्ध चेतना होती है, किन्तु वह अदम्य शक्ति निर्वैयक्तिक मौलिकता होती है। उसका सार्वजनीन स्वरूप होता है। वह युग की अभिव्यंजना होती है। वह यथार्थ से उद्‌भूत यथार्थ में ही समाहित रहती है। उसमें आदर्श पनपता है, फलता-फूलता है। वह समूह-समर्थक जागरण, ज्योतित, जीवनाभिमुखी, कर्मशील, और गतिवान होती है। निर्वैयक्तिकता की यह अवस्था अधिक दिन तक जीवित रहती है।

इसीलिए अपने स्वभावों से आधुनिकता कालबद्ध चेतना है।

आज हिन्दी की नयी कविता में आधुनिकता से उद्‌भूत असाधारणता है—विघटन

की मनोदशा की वैयक्तिक मौलिकता है—आत्म-परक एकांतिकता है—और यह सब का सब संवेदन-विहीन, रुचि और रस से रहित, मानव- मूल्यों से शून्य है। वह आधुनिकता संक्रामक है। वह अपूर्णता की विकृत चेतना है।

ऐसी नयी कविता को ही नयी कविता कहना और उसी के सिरमाथे सेहरा बाँधना, किसी प्रकार से, उचित नहीं है। ऐसी नयी कविता वास्तव में मानव की उस मन:स्थिति की कविता है, जब वह धुँधलके में होता है, जब उसके मार्ग अवरुद्ध होते हैं, जब वह नया प्रकाश खोज रहा होता है, जब वह अपने स्नायविक स्पन्दनों से अमूर्त भावनाओं की प्रतीति मात्र कर रहा है और उसके विचार बन-सँवरकर, निखरकर सामने नहीं आ सके होते हैं। ऐसी कविता का कोई मानवीय मूल्य नहीं होता। वह मानवता से विरक्त होती है। वह विघटन के अमूर्त अवसादों की अनजानी, अपहचानी, स्वयं-स्फूर्त, अथवा बलात प्रजनित, कृति होती है। शब्द वहाँ अपनी ध्वनियों से नहीं बोलते—अपने अर्थ देते हैं—वरन् वे वहाँ कुछ की कुछ हो जाते हैं। कहीं वे प्रतीक की तरह प्रयुक्त होते हैं। कहीं वे ओट किये खड़े होते हैं। कहीं एकदम उदासीन, कहीं एकदम तटस्थ, कहीं एकदम मौन होते हैं। वह किसी बात की सूचना नहीं देते । वह अपना अस्तित्व खोये हुए होते हैं। कवि के अस्तित्व को अपने ऊपर ओढ़े हुए होते हैं।

न जाने लोग-बाग ऐसी कविता के अलावा अदम्य शक्ति की कविता को, नयी कविता में सम्मिलित क्यों नहीं करते। वह भी तो आधुनिकता का एक अंश.... और बहुत जीवन्त अंश है। शायद! वह इसीलिए त्याज्य समझा जाता है कि कहीं सामाजिकता का आग्रह न कर बैठे।

मेरी राय में वही कविता नयी कविता है, जो स्वस्थ, सबल, सुन्दर है, जो युग और यथार्थ को समेट कर चलती है, जो अदम्य शक्ति से जीवन को उत्साहित और प्रेरित करती है, और जो मानव-मूल्यों की उदात्त परम्परा को उत्तरोत्तर विकसित करती है।

3. क्या आधुनिकता, विशेष परिस्थितियों के प्रति आत्म-सजग कृतिकार की संलग्नता है?

जो भी विशेष परिस्थितियाँ घटित हुई हैं, उन सब का प्रभाव मानव- समाज पर पड़ा है, मानव-मन पर पड़ा है, मनुष्य के सोचने-समझने और विचार करने के तरीके पर पड़ा है, उसकी अभिव्यक्तियों के अंकन पर पड़ा है और उसकी कलात्मक रुचि बदली है। आत्म-सजग कृतिकार तो और भी संवेदनशील प्राणी होता है। उसपर तो उन परिस्थितियों का विशेष प्रभाव पड़ा है। वह आत्मसंकट की स्थिति में पहुँच गया है। उस आत्मसंकट से वह अत्यधिक विघटित हो गया है। उस विघटित होने से वह अपनी ही सत्ता को लोप होते देखने लगा है। वह ऐसी मनोदशा में डूब रहे प्राणी की तरह हताश हो गया है—तिनके का सहारा खोजने लगा है, वह कृतिकार है, इसलिए अपनी ही मानसिक विकृतियों को पकड़ने लगा है। इसलिए नये कवि की रचनाएँ

मुख्यत: विकृतियों का पुंज होती हैं। वह विकृतियाँ आधुनिकता के नाम से स्वीकृत होती हैं। वह आधुनिकता वस्तुस्थिति का प्रतिफलन नहीं करती—वह वास्तव में मानसिक आधुनिकता होती है। इसमें घटित हुई परिस्थितियों का निरूपण नहीं होता। उसमें घटित हुई परिस्थितियों से विघटित हुई मानसिक मनोदशा का संचयन होता है। इसलिए यह कहना सही नहीं है कि आत्म सजग कृतिकार की संलग्नता विशेष परिस्थितियों से होती है। और उसी संलग्नता में उसकी आधुनिकता है। आत्म-सजग कवि परिस्थितियों से पीड़ित होता है, किन्तु उनसे संलग्न नहीं होता। वह अपने को उनसे विलग रख सकता—न रख पाता है—तभी तो परिस्थितियाँ उसपर हावी होती है और वह उनका शिकार होता है। वह विवशता की अवस्था में पड़ा रहता है। वह अपने उद्धार का बोध तक खो देता है।

परिस्थितियों से संलग्नता तो वह स्थापित करते हैं, जो परिस्थितियों पर सवार होने का बल और बूता रखते हैं—जो आत्म-संकट से निकलकर लोक-चेतना को पाना चाहते हैं, जो संघर्ष में विश्वास रखते हैं, जो नव-निर्माण की कामना रखते हैं—जो सुख, शान्ति और समृद्धि की अवतारणा के लिए जीते, जागते, और मरते हैं। लेकिन ऐसे कृतिकारों को आजकल आधुनिक नहीं कहा जाता। उन्हें नये कवियों की पंक्ति में नहीं रक्खा जाता। उन्हें वहाँ से बलात् निष्कासित किया जाता है। उन्हें आरोपित व्यक्तित्व का कवि कहा जाता है।

यह विडम्बना है कि जो विघटित व्यक्तित्व के कृतिकार हैं, वही आज आधुनिक हैं, नये हैं और अदम्य शक्ति के कृतिकार हैं, वही आज आधुनिक नहीं हैं—नये नहीं हैं।

4. क्या यह परिस्थितियाँ आधुनिक युग में एक साथ घटित हो गयी हैं, जिससे आधुनिकता का पैनापन बहुत स्पष्ट हो गया है?

निस्संदेह आधुनिक युग में विशेष परिस्थितियाँ एक साथ घटित हुई हैं। उन परिस्थितियों ने मनुष्य को विवश कर दिया है कि वह नये को स्वीकारे। लेकिन यह नयापन, वह आधुनिकता कोई बाह्य विकार की देन नहीं है। परिस्थितियाँ भी जीवन की हैं और वह नयापन भी जीवन का है। देखने-सुनने में दोनों भले ही बाह्य-आरोपित लगें। जिसे आधुनिकता का पैनापन समझा जाता है, वह जीवन का पैनापन है। निश्चय ही वह पैनापन तीव्र हो गया है। जीवन भी दो तरह से जिया जाता है। एक जीना मानसिक होता है। दूसरा जीना भौतिक होता है। दोनों में तीव्रता आ जाती है।

5. क्या यह परिस्थितियाँ उस वस्तु-जगत् तक ही सीमित हैं, जो वैज्ञानिक या प्राविधिक प्रगति के कारण बदला है?

निश्चय ही परिस्थितियाँ वस्तु-जगत् में घटित होती हैं। वे मूलत: भौतिक होती हैं। उन भौतिक अथवा लौकिक परिस्थितियों को मानव-मन संवेदनों के द्वारा जानता-पहचानता है। मानव-मन में परिस्थितियाँ नहीं घटित होतीं। वहाँ भाव और विचार

उपजते हैं। वस्तु-जगत् की तीव्र परिस्थितियाँ तीव्र-भावों और विचारों को उद्वेलित करती हैं। इसलिए यह कहना कि मानव-मन में भी वही परिस्थितियाँ घटती होती हैं जो वस्तु-जगत् में घटती हैं, सर्वथा अवैज्ञानिक कथन है।

भाव और विचार अपनी प्रारम्भिक स्थिति में केवल आवेग और संवेग होते हैं। वह मनुष्य के मानसिक केन्द्रों में एक प्रकार की चेतना को उकसाते हैं। वहीं वह अन्य केन्द्रों में संरक्षित अनुभवों के साथ सम्पर्क स्थापित करते हैं। और फिर वहीं वह भाव और विचार मनुष्य के बने हुए व्यक्तित्व का बोध प्राप्त करते हैं और वहीं अपना स्वरूप ग्रहण करते हैं और वहीं से शब्द और अर्थ के रूप में बाहर आते हैं। इसलिए कहना गलत है कि मनुष्य के मन में विचार अपने पूर्ण रूप में पहले ही बने रहते हैं और वह सीधे वहीं से बाहर निकल आते हैं। इसलिए यह कहना भी गलत है कि नयी कविता परिपक्व विचारों को व्यक्त करती है—भावों का बोध कराती है। वह तो मनुष्य के मन की उस अवस्था की कृति है, जिसमें मनुष्य धुंध में रहता है, जिसमें सबकुछ अपना सही रूप नहीं पा सका होता, जिसमें अधूरापन, अधकचरापन रहता है। ऐसी मनोदशा की कविता निश्चय ही केवल मानसिक विकृतियों का पुंज होगी—उसकी अभिव्यक्ति भी विकृति होगी। उसे वही समझ सकता है, जो उसे लिखता है। वह दूसरे में वैसी ही अनूभूति उत्पन्न कर सकने में अवश्य ही असमर्थ होती है। वह पूर्णरूपेण अमानवीय होती है। इसी आधार पर—उसी धरातल पर—नयी कविता का सम्पूर्ण रहस्य समझा जा सकता है। अन्य धरातल पर नयी कविता को समझ सकना असम्भव है।

नयी कविता को अलग से लेकर उसकी समीक्षा करना, उसका मूल्यांकन करना, उसकी विवेचना करना, इसीलिए कोई अर्थ नहीं रखता। वैसी समीक्षा, वैसा मूल्यांकन, वैसा विवेचन असत्य के प्रतिपादन के अतिरिक्त कुछ नहीं है। नयी कविता का सारा दर्शन, सारा सिद्धान्त, मानसिक ग्रंथियों के अस्पष्ट उद्वेलन और आकारहीन आवेगों का निरर्थक दर्शन और सिद्धान्त है। जीवन में नयी कविता का—ऐसी कृतियों का—कोई मूल्य नहीं है।

यदि नयी कविता को और अधिक समय तक भीतर रक्खा जाय और उसके धुँधले आवेगों को और अधिक काल तक वहाँ रमाया-बिरमाया जाय और उसके व्यक्त करने की क्रिया में उतावली न बरती जाय और कवि उसे अपने समक्ष व्यक्तित्व में समा लेने दे, तो निश्चय ही वह दूसरे सफल रूप में व्यक्त होगी, जो वास्तव में कविता होगी और प्रिय होगी।

6. क्या यह परिस्थितियाँ कृतिकार की आंतरिक विवशता और बेचैनी में अधिक केन्द्रित हैं?

वस्तु-जगत् की परिस्थितियाँ घटती तो वस्तु-जगत् में हैं, किन्तु उनका प्रभाव मानव-मन पर भी पड़ता है। वह काम इंद्रियाँ करती हैं। इंद्रियों के माध्यम से मनुष्य

उन परिस्थितियों का प्रभाव ग्रहण करता है। वह प्रभाव संवेदना के रूप में होता है। भाव और विचार के रूप में होता है। संवेदन भाव और विचार का स्वरूप मनुष्य के अपने बने हुए व्यक्तित्व से निर्धारित होता है। उसके व्यक्तित्व में अतीत का इतिहास और उसके अनुभव रहते हैं। उसके व्यक्तित्व में वर्तमान का यथार्थ और आदर्श रहता है। उसके व्यक्तित्व में भविष्य का रूप रहता है। एक साथ तीनों कालों को समेटे हुए मनुष्य का व्यक्तित्व ही बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित होता है और उन्हें भी प्रभावित करता है। इसतरह देखने से पता चलता है कि दो जगत् हैं—1. बाह्य जगत्, और 2. मनोजगत्। बाह्य जगत् से ही मनोजगत् का अस्तित्व सम्भव हुआ है। प्रत्येक प्राणी को वाह्य जगत् में रहकर ही मनोजगत् को उपलब्ध करना पड़ता है। जहाँ और जब इन दोनों जगतों का सम्बन्ध तोड़ दिया जाता है अथवा एक के अस्तित्व को दूसरे के अस्तित्व से अलग कर दिया जाता है, वहाँ और तब इन दोनों जगतों में एक अवांछनीय विभाजन उत्पन्न हो जाता है। यह विभाजन न बाह्य जगत् के लिए हितकर होता है, न आत्मजगत् के लिए। हित इसी में है कि दोनों में संयोग रहे।

बाह्य परिस्थितियों की समस्याओं का संकट ही मानसिक धरातल पर आंतरिक विवशता और बेचैनी का रूप पाता है। लेकिन यही एक रूप हो, ऐसा नहीं है। दूसरा रूप भी है। वह है उत्साह और आशा का, अदम्य शक्ति और साहस का। इस रूप की उपेक्षा करना मानव-मन की उपेक्षा करना है। इनमें से कौन रूप किस कृतिकार में कितना मिलेगा, यह कह सकना असम्भव है। किसी में किसी रूप का प्राधान्य होगा, किसी में किसी रूप का, किसी में दोनों रूपों का संयोग होगा।

विवशता और बेचैनी का रूप वहीं अपने सहज और स्वाभाविक स्वभाव में व्यक्त होता है, तो कहीं बलात् आरोपित स्वभाव में कला की नवीन अभिव्यक्ति के स्वभाव में व्यक्त होता है। जहाँ सहजता होती है, स्वाभाविकता होती है, वहाँ विवशता तदनुरूप विवश बनाती है। जहाँ आरोपित होती है, केवल कलात्मक नवीनीकरण होती है, वहाँ विवशता कृत्रिमता प्रदर्शित करती है और तदनुरूप उपेक्षा और अस्वीकृति उत्पन्न करती है।

इसी प्रकार उत्साह और आशा का रूप कहीं अपने सहज और स्वाभाविक स्वभाव में व्यक्त होता है, तो कहीं बलात् आरोपित स्वभाव में—कला की नवीन अभिव्यक्ति के स्वभाव में व्यक्त होता है, जहाँ सहजता होती है। जहाँ स्वाभाविकता होती है, वहाँ उत्साह और आशा तदनुरूप उत्साहित और आशान्वित बनायी है। जहाँ वे आरोपित होते हैं, केवल कलात्मक नवीनीकरण होते हैं, वहाँ उत्साह और आशा जीवन की कृत्रिमता प्रदर्शित करते हैं और तदनुरूप उपेक्षा और अस्वीकृति उत्पन्न करते हैं।

अतएव यह कहना कि परिस्थितियाँ कृतिकार की आंतरिक विवशता और बेचैनी में अधिक केन्द्रित हैं, अनुचित है।

नयी कविता में विवशता और बेचैनी को ही प्रश्रय मिला है, इसका मुख्य कारण

यही है कि मन को बाह्य संसार से अलग मान लिया गया है और उसकी स्वतंत्र सत्ता के आधार पर ही कृतियों को जन्म दिया गया है। वह कृतियाँ भी असहज और आरोपित अधिक हैं, सहज और अनारोपित कम हैं।

7. क्या यह परिस्थितियाँ इसपर भी कलातीत सम्बन्ध स्थापित करना चाहती हैं?

परिस्थितियाँ तभी कालातीत सम्बन्ध स्थापित कर सकती हैं, जब वह अतीत की परिस्थितियों से सम्बन्ध स्थापित किये रहें और भविष्य की परिस्थितियों से सम्बन्ध स्थापित करें। तभी वर्तमान की परिस्थितियाँ एक सूत्र में बँधती हैं। इसके विपरीत यदि वह एकाकी रहीं, तो उनको ऐतिहासिक महत्त्व मिल जाता है। इसके विपरीत यदि वह एकाकी रहीं, तो उनका महत्त्व उनको नहीं मिल पाता। वह क्षणिक बोध की मूल्यहीन इकाइयाँ बन जाती हैं और केवल विघटन का उद्‌घाटन करती हैं। विघटन स्वयमेव जीवन नहीं है। वह जीवन के संकट की स्थिति है। जीवन उसे पार करता है। इसीलिए जीवन की मूल्यहीन इकाइयों के रूप में वह परिस्थितियाँ पीछे छूट जाती हैं और मनुष्य विकास-क्रम में आगे बढ़ जाता है। कालातीत सम्बन्ध तो वह सम्बन्ध है, जो समय में शाश्वत है। जो क्षण का है—जो मात्र आधुनिकता है—जो केवल वैयक्तिकता है—वह शाश्वत का अंश नहीं है। वह कालातीत नहीं हो सकता। आधुनिकता का आशय ही कालातीत नहीं हो सकता। आधुनिकता का आशय ही कालातीत सम्बन्ध स्थापित करने के विरुद्ध है। वह जीवित रक्खी जाती है अपनी ऐसी विशिष्टता में ही, जो व्यक्ति की निजी आत्मगत मौलिकता होती है। कालातीत सम्बन्ध इस विशिष्टता का परिहार करता है। वह सम्बन्ध आत्मगत मौलिकता का तिरस्कार करता है। कालातीत विशिष्टता और कालातीत मौलिकता जीवन की व्यापकता से उद्‌भूत होती है और व्यापक जीवन की समग्रता में ही समायी रहती है।

मौलिकता जहाँ निजी निधि हो जाती है और आधुनिकता की खोल में छिपी रहती है, वहाँ वह समग्र मानवता की चेतना की नहीं, बल्कि एक व्यक्ति-विशेष के—एक आधुनिक कृतिकार के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करती है और वही उसका लक्ष्य होता है।

मौलिकता जहाँ निजत्व से निकलकर समग्र की चेतना का संस्पर्श करती है, वहाँ वह उसी समग्र चेतना का प्रतिनिधित्व करती है और वही उसका लक्ष्य होता है।

इसलिए आधुनिकता की खोल में छिपी रहनेवाली मौलिकता घोर वैयक्तिकता है, जिसका दूसरे मनुष्य की रुचि और रस से कोई सम्बन्ध नहीं है।

इसलिए निजत्व से बाहर निकली मौलिकता पूर्ण निर्वैयक्तिकता है, जिसका दूसरे मनुष्य की रुचि और रस से पूरा सम्बन्ध है।

आधुनिकता की खोल में छिपी मौलिकता की देन नयी कविता है। वह घोर वैयक्तिक है। उसका सम्बन्ध दूसरे मनुष्य की रुचि और रस से नहीं है। वह इकाई है। आदि से अन्त तक इकाई बनी रहती है।

इसलिए नयी कविता भी कालातीत नहीं हो सकती। वह एक कृतिकार की विशिष्ट चेतना का प्रतिनिधित्व मात्र कर सकती है—समग्र मानवता की चेतना का संस्पर्श तक नहीं कर सकती।

इसीलिए यह कहना सही नहीं है कि नयी कविता का कृतिकार अपनी मौलिकता से कालातीत और शाश्वत कविता की सृष्टि कर रहा है।

8. क्या इन परिस्थितियों में भी कृतिकार एक बड़ी सीमा तक तटस्थ रहता है?

तटस्थ वही कृतिकार रह सकता है जो परिस्थितियों में न पड़े। परिस्थितियों में वही कृतिकार नहीं पड़ सकता जो परिस्थितियों से परे किसी दूसरे जगत् में रहे। वह दूसरा जगत् भौतिक नहीं हो सकता। यदि होगा, तो वह मानसिक होगा। इसलिए तटस्थता का यही अर्थ हुआ कि कृतिकार ने अपने मनःलोक में आश्रय पा लिया है, जहाँ निश्चय ही भौतिक परिस्थितियाँ अपने बाह्य रूप में प्रवेश नहीं पातीं। वहाँ इन्द्रियों के आवेग और संवेग ही पहुँचते हैं। कृतिकार उन आवेगों और संवेगों की वजह से अपनी पूर्व स्थिति में नहीं रहता। उसकी पूर्वस्थिति प्रभावित होती है। कृतिकार इसका अनुभव करता है। उसका व्यक्तित्व चेतन है, इसलिए उसकी चेतनता कृतिकार को उन आवेगों और संवेगों से दोलित करती है। कृतिकार अपनी इस मनोदशा में कुछ अतिरिक्तता पाता है। वह अतिरिक्तता यदि विघटन की ओर प्रयाण कर गयी, तो कृतिकार कुण्ठाओं से अभिभूत हो जाता है। वह अतिरिक्तता यदि संघटन की ओर प्रयाण कर गयी, तो कृतिकार मन के गहरे स्तरों में प्रवेश कर जाता है। संघटन की दशा में कृतिकार बाह्य लोक के स्तरों में प्रवेश कर जाता है। अपनी विघटन की दशा में कृतिकार वैयक्तिक—घोर वैयक्तिक हो जाता है। अपनी संघटन की दशा में कृतिकार निर्वैयक्तिक—पूर्णरूपेण निर्वैयक्तिक हो जाता है। अपनी इस वैयक्तिक स्थिति में वह अपने आवेगों और संवेगों में लीन रहता है। दोनों ही दशाओं में कृतिकार तटस्थ नहीं रहता। वैयक्तिक स्थिति को निर्वैयक्तिक स्थिति की तटस्थता नहीं कहा जा सकता। न निर्वैयक्तिक स्थिति को वैयक्तिक स्थिति की तटस्थता कहा जा सकता है। कृतिकार तो दोनों ही दशाओं में संलग्नता की स्थिति में रहता है। इस संलग्नता की स्थिति में एक ओर वैयक्तिकता उद्‌भूत होती है। निर्वैयक्तिकता मौलिक प्रसार पाती है।

नयी कविता संलग्नता की उस स्थिति की देन है, जो वैयक्तिकता-मूलक है। वह कदापि तटस्थता की स्थिति की रचना नहीं है।

9. क्या इन परिस्थितियों में भी कृतिकार को अपनी रचना-प्रक्रिया में अधिक तल्लीन रहना पड़ता है?

विघटन की मनोदशा हो चाहे संघटन की—दोनों मनोदशाओं में कृतिकार को अधिक तल्लीन रहना पड़ता है। अधिक तल्लीनता की अवस्था में आत्मसजग कृतिकार अपने में ही डूब जाता है। वह बाह्य जगत् का और भी नहीं रह जाता। अधिक तल्लीनता की अवस्था में बाह्य जगत् का कृतिकार वाह्य में ही डूब जाता है। वह आत्म

जगत् का और भी नहीं रह जाता। आत्म-सजग कृतिकार की तल्लीनता उसे बाह्य जगत् में रचना के उपकरण नहीं खोजने देती। बाह्य-सजग कृतिकार की तल्लीनता उसे आत्म-जगत् में रचना के उपकरण नहीं खोजने देती। यदि इसपर भी आत्म-सजग कृतिकार अपनी तल्लीनता की अवस्था में बाह्य जगत् से अपनी रचना के उपकरण खोजता भी है, तो वह खोज ऊपरी और सतही होती है और उस खोज के परिणाम भी—उबड़-खाबड़ और विकृत होते हैं। यदि इसपर भी बाह्य-सजग कृतिकार अपनी तल्लीनता की अवस्था में आत्म-जगत् से अपनी रचना के उपकरण खोजता है, तो वह खोज ऊपरी होती है। और उस खोज के परिणाम अंड-बंड और भ्रष्ट होते हैं।

रचना-प्रक्रिया का मूल उद्‌गम इन्द्रियों के बोध-ग्रहण में है। वह बोधग्रहण पहले संकेतबद्ध नहीं होता। वह संकेतबद्धता परिस्थितियों से प्राप्त होती है। जब वह प्राप्त हो जाती है, तब बोध-ग्रहण ज्ञान की दशा में आने लगता है। ज्ञान की दशा में ही भाव विचारों का रूप पाने लगते हैं। भाव और विचार इसलिए संकेत-बद्ध इन्द्रिय-बोध है। वह संकेत-बद्ध इन्द्रिय-बोध ही भाषा में अभिव्यक्ति पाता है। भाषा में की गयी अभिव्यक्ति ही अमूर्त से मूर्त हुआ संकेत-बद्ध इन्द्रिय-बोध है। यही अभिव्यक्ति रचना है।

अतएव अमूर्त इन्द्रिय-बोध से संकेत-बद्ध मूर्त इन्द्रिय-बोध तक पहुँचने की प्रक्रिया ज्ञान के पाने की प्रक्रिया है। जब वह ज्ञान की प्राप्ति की प्रक्रिया सृजन-संकल्प से सम्बद्ध हो जाता है, तब यह रचनात्मक प्रक्रिया बन जाती है। यही रचनात्मक प्रक्रिया जब वैयक्तिकता से संयोगित हो जाती है, तब मानसिक प्रक्रिया निर्वैयक्तिकता से संयोगित हो जाती है। तब वस्तु-जगत् का निरूपण करने लगती है।

अतएव नयी कविता अत्यधिक मानसिक तंतु-जाल की कविता है। वह मूर्त हुआ संकेत-बद्ध इंद्रिय-बोध है। किन्तु वह मूर्तत्व एक विशिष्ट इंद्रिय-बोध से मानसिक अमूर्तत्व हो जाता है। अमूर्त में मूर्त ज्ञान की ओर मूर्त ज्ञान से फिर मानसिक अमूर्तत्व की ओर नयी कविता प्रयाण करती है। यदि यही कविता अपनी मानसिक अमूर्तत्व की ओर प्रयाण न करे, बल्कि बाह्य जगत् के मूर्तत्व की ओर प्रयाण करे, तो वह मूर्तत्व नयी कविता की संज्ञा नहीं पाता। वह निर्वैयक्तिक होता है, इसलिए भौतिक होता है। मानसिक नहीं।

10. क्या तटस्थ रहने में और तल्लीन रहने में विरोधाभास है?

तल्लीनता में आत्मसजग या बाह्य-सजग संलग्नता और चेतना या अवचेतना सक्रिय रहती है। वह संलग्नता हो या सक्रियता अथवा दोनों हो, कृतिकार को तटस्थ नहीं रहने देती। तल्लीनता गहरे सम्पर्क में समाने की अवस्था है। तटस्थता सम्पर्क में न समाने की व्यवस्था है। तल्लीनता की अवस्था में कोई भी कृतिकार तटस्थ रहने का दावा नहीं कर सकता। तटस्थता तल्लीनता को अस्वीकार करती है। तल्लीनता तटस्थता को अस्वीकार करती है। यह हो सकता है कि कृतिकार पहले तल्लीनता की अवस्था

में रहे और फिर तटस्थता की स्थिति में आ जाय। यह भी हो सकता है कि कृतिकार पहले तटस्थता की अवस्था में रहे और फिर तल्लीनता की स्थिति में आ जाय। तात्पर्य यह है कि दोनों स्थितियाँ एक साथ प्रकटित नहीं हो सकतीं। एक का असित्व दूसरे के अनस्तित्व का प्रयाण है। इसलिए इनके सहअस्तित्व की कल्पना करना असंगत है। इसलिए इनमें विरोधाभास की कल्पना करना असंगत है। विरोधाभास का दोनों के सह-अस्तित्व में ही प्रकट होना सम्भव है। किन्तु दोनों के सह-अस्तित्व की सम्भावना नहीं है, इसलिए विरोधाभास की भी संभावना नहीं है।

नयी कविता तटस्थता की स्थिति की कविता नहीं है। वह कृतिकार की मानसिक संलग्नता की स्थिति की कविता है। वह संलग्नता अन्तर्मुखी होती है—बहिर्मुखी नहीं। इसलिए उस संलग्नता से जो रचना की प्रक्रिया होती है वह भी अन्तर्मुखी होती है। अन्तर्मुखी प्रक्रिया से अन्तर्मुखी रचना का निर्माण होता है। यह अन्तर्मुखी प्रक्रिया प्रत्येक व्यक्ति की अपनी होती है। यह अन्तर्मुखी रचना प्रत्येक व्यक्ति की अपनी होती है। इसका तात्पर्य यह है कि किसी दो कृतिकारों की रचनाएँ एक-सी नहीं हो सकतीं। मानसिक धरातल पर कोई दो कृतिकार एक ही विन्दु पर स्थित नहीं पाये जा सकते। वस्तु-जगत् से विमुख मानसिक चेतना प्रमुख रूप में विभेदीय होती है। वह एकात्मकता स्वीकार नहीं करती। विलग रहना उसका स्वभाव है। नयी कविता यही प्रतिपादन करती है।

मानसिक चेतना केवल बहिर्मुखी होकर ही एकात्मकता की ओर संक्रमण करती है। वह कहीं न कहीं वस्तु-जगत् में अपनी विलगता खोती है। वह विलगता खोने की स्थिति जब आती है, मानसिक चेतना एक उद्देश्य, एक जीवन-दर्शन, एक समाधान, एक नैतिकता, एक संकल्प, एक क्रियाकलाप से संलग्न होती है और लोक-चेतना से आबद्ध होती है। नयी कविता वैयक्तिक मानसिक चेतना की कविता है। उसमें लोक-चेतना से आबद्ध होने का पूर्णतया तभी अभाव मिलता है। तभी नयी कविता की विषय-वस्तु और शैली में विभिन्नता मिलती है और वह विभिन्नता कहीं भी, किसी विन्दु पर एकता स्थापित नहीं करती। तभी नयी कविता लोक-जीवन की कविता नहीं है। तभी नयी कविता लोक-जीवन में टिक नहीं सकती। तभी नयी कविता का लौकिक मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। तभी नयी कविता का सैद्धान्तिक स्तर स्थापित नहीं किया जा सकता। तभी उसको आलोचनात्मक स्थिरता नहीं प्राप्त हो सकती। तभी वह क्षण की कविता है। तभी वह खण्डित सौन्दर्य की कविता है। तभी वह कुण्ठित व्यक्तित्व की कविता है। तभी वह खण्डित लय की कविता है। तभी वह असंस्कृत कविता है।

❑

छंदों का उद्‌भव और विकास

छंद और कविता का ऐसा अटूट सम्बन्ध रहा है कि जनसाधारण की यह धारणा बन गयी है कि कविता की रचना छंद में ही होती है। छंद कविता का अपरिहार्य अंग है। जो कविता छंद में नहीं है, वह कविता नहीं है—न ही छंद-विहीन कविता काव्य कहला सकती है।

जनसाधारण की यह धारणा गलत नहीं कही जा सकती। गलत इसलिए नहीं कही जा सकती, क्योंकि पूर्व काल से कविता छंदबद्ध होती चली आयी है। श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ कविता छंदों में ही रची जाती रही है। जनसाधारण जब से साक्षर हुआ, तब से वह छंदबद्ध कविता ही कंठस्थ करता चला आया है। उपलब्ध काव्य भी छंदों में ही उपलब्ध होता रहा है।

अलावा इसके, लिखित काव्य के पहले लोकगीत पाये जाते रहे हैं। वह भी लय, तुक और तान में होते रहे हैं। भले ही उन्हें काव्यगत छंदों में अभिव्यक्ति न मिलती रही हो। यह निश्चित है कि छंदबद्ध कविता के छंदों को उन लोकगीतों से होकर काव्य में आना पड़ा होगा। तभी उन्हें स्थायी लिखित रूप मिला होगा।

मैं यह नहीं कहता कि लोकगीतों के अलावा छंदों का कोई अन्य स्रोत न रहा होगा। अन्य स्रोत या स्रोतों की कल्पना भी की गयी है। और हो सकता है कि वह कल्पना सत्य हो। लेकिन यह अवश्य है कि जनसाधारण ने अन्य स्रोतों को भी कविता के छंदों का उद्‌गम स्थान माना है। उस मान्यता का निराकरण किया जा सकता है, परन्तु निराकरण मेरा लक्ष्य नहीं है—वह फिर कभी देखा जायेगा। मैं तो यहाँ छंद-सम्बन्धी प्रचलित मान्यता पर विचार कर रहा हूँ और उस मान्यता को स्वीकार करके अपने विषय का प्रतिपादन करूँगा।

आदि कवि वाल्मीकि को 'अनुष्टुप' करुणा-कातर आहत क्रौंच के मर्म-भेदी स्वर से मिला था—वह उनके कंठ से अनायास प्राकृत निकल पड़ा था। ऐसे ही कविवर पंत को अपनी कविता का छंद विरह से मिला था, तभी उन्होंने कहा था—

वियोगी होगा पहला कवि
आह से उमड़ा होगा गान
निकल कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान।

अंग्रेजी भाषा के कवि शैली ने भी कुछ ऐसा ही कहा था। इन प्रसिद्ध प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि छंद, मनुष्य की विशेष स्थिति की मनोदशा से स्वत: वाणीबद्ध होकर, फूट पड़ा करता है। इन प्रमाणों को झुठलाया नहीं जा सकता। इनको साक्षर जनता ने सत्य माना है और अबतक सत्य मानती आयी है। इन्हें झुठलाना अशोभनीय कहा जायेगा। किन्तु द्रष्टव्य है कि, यह प्रमाण पूर्ण सत्य नहीं है—केवल खंड सत्य है। मूल और मौलिक सत्य तो यह है कि आदि कवि के पूर्व भी लोकधुनें रही होंगी और तब के जनसाधारण जन धुनों में अपने मन की अभिव्यक्ति करते रहे होंगे। मन की अभिव्यक्ति को अवश्य ही लोकगायन के द्वारा व्यक्त करने की परम्परा आदिकवि के पूर्व ही स्थापित हो चुकी रही होगी और आदिकवि उस परम्परा को स्वीकार करते रहे होंगे। और तब ही, उनके स्वीकार-भाव के कारण उनकी अन्तश्चेतना में यह धारणा बन चुकी होगी कि लय, तुक और तान का गान कविता का अपरिहार्य अंग है और जब ऐसी धारणा बनने के उपरान्त उन्होंने क्रौंच का वध देखा, तब निसंदेह उनकी यह धारणा प्राकृत रूप में अनुष्टुप फूट निकली। मेरा कुछ ऐसा ही मत है।

यदि अपनी बात को दूसरे शब्दों में कहूँ, तो मुझे कहना पड़ेगा कि छंद का आदि स्रोत जनसाधारण के परम्परागत लोकगीत में मिलता है, न कि करुणा या विरह, अथवा कहीं और।

यह भी एक जटिल समस्या रही है कि जाना जाये कि लोकगीत क्यों जन्मे। इस दिशा में मनुष्य ने सोचा-विचारा है। परन्तु जो भी विचार मनुष्य ने व्यक्त किये हैं, वह भी इस सम्बन्ध में अवैज्ञानिक ही कहे जायेंगे। लोगों का मत है कि आदमी के साथ उसका गान भी जन्म पाता है, जैसे वह गर्भ से लेकर ही अपना गान आता है। यह बात सच हो या नहीं—मैं नहीं जानता, पर मैं इसे सत्य नहीं मानता। न इसके सत्य होने के प्रमाण ही किसी ने दिये हैं। वैसे भी आदमी के जन्म के पूर्व क्या-कुछ रहा होगा, कोई कुछ नहीं कह सकता। यदि कोई कुछ कहता भी है, तो वह कल्पना-प्रसूत ही माना जायेगा।

मैं समझता हूँ कि गान के जन्म के बारे में लोगों की आम धारणा विवेक-संगत नहीं है। लोकगीत प्राकृत जन्म का गीत है। प्राकृत जन्म मैं उन्हें कहता हूँ, जो अपनी आदिम अवस्था में थे और उसी अवस्था में रहकर, बिना किसी मानवीय विकसित समस्या और संस्कृत के परिवेश में, अपना जीवन-यापन करते थे। तब वह प्रकृति के परिवेश में जीते थे और जीने के लिए अपने उस परिवेश से संघर्ष करते थे और परिवेश को अपने जीवन के लिए, अनुकूल बनाने का उपक्रम करते थे या उसके आघात से बचने के लिए अपने किसी मानवीय तौर-तरीके से ऐसे साधन जुटाते थे, जो उन्हें परिवेश के तीव्र आघात से या तो पूर्णतया सुरक्षित रखते थे या कम-ज्यादा मात्रा में सुरक्षित रख सकते थे। तब प्राकृत जन अपने अष्टांग से यह संघर्ष करता था और अपने विभिन्न समूह की इकाइयों से भी यह संघर्ष करता था। ऐसा करते-करते उसे भी शताब्दियाँ बीत गयी होंगी और तब वह अपने लिए जीवन जीने का वह समाज बना सका होगा, जब उसे

शब्दों की संकेतबद्धता कुछ-न-कुछ समाप्त हो गयी होगी और अपनी उस अल्पार्जित संकेतबद्धता के बल पर वह अपने भाव और विचार अपने अन्य सामाजिक भाइयों से व्यक्त करने लगा होगा और इसप्रकार उसकी सामाजिक इकाइयों में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित हुआ होगा और वह इकाइयाँ आपसी सूत्र में बँध गयी होंगी। हाँ, तो यह तभी की बात है कि प्राकृतजन ने लोकधुनें निकाली होगी। यानी उन्हें, अपने उस परिवेश से संघर्ष कर-करके, काम कर-करके अपने क्रिया काल में, पाया होगा। आदमी शिकार करते रहे होंगे। पहले अलग-अलग फिर संघटित इकाइयों के रूप में, पहले किसी पशु या पक्षी का, फिर किसी अन्य पशु या पक्षी का; यानी जब जैसी जिस पशु या पक्षी की बहुतायत रही होगी, उन्हें उसी को अपना भोज्य बनाना पड़ा होगा। दृष्टव्य यह है कि पहले यह संघर्ष आदमी को लगभग एक जैसा ही-यानी उसे उस क्रिया को एक ही प्रकार से करना पड़ता था। उसे वह क्रिया या कर्म नित्यप्रति समान रूप से पुर्नबार करना होता था। ऐसे बार-बार क्रिया व कर्म करते रहने में उसे अपने अंगों और अपने स्वरों को भी बार-बार एक समान ही दोलित करना होता था। यही पुनरोक्ति की वह दशा है, जहाँ पहुँचकर प्राकृतजनों ने क्रिया और स्वरों की संकेतबद्धता पायी थी। काम करते-करते अब भी हम और आप कभी-कभी गुनगुनाने लगते हैं और लगभग उसी प्रकार का काम बार-बार करते समय उसी प्रकार की गुनगुनाहट करते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि हमने अपने कार्य करने की क्रिया की पुनरावृत्ति से, अपने स्वरों की गुनगुनाहट की पुनरावृत्ति से संकेतबद्धता स्थापित कर ली है। इसका कोई अन्य कारण नहीं है। अतएव क्रिया और स्वर की मैत्री परिवेश-विशेष के कारण सम्भव हुई, और फिर दोनों पुनरावृत्ति अधिक घनिष्ठ मैत्री का कारण हुईं, और फिर मैत्री की पुनरावृत्ति संकेतबद्धता का कारण हुई। संकेतबद्धता के होते ही मनुष्य उस मनोदशा में पहुँच जाता है कि जैसे ही परिवेश-विशेष में उसे विशेष कर्म या क्रिया करनी पड़ती है, वह स्वभावतः अपनी संकेतबद्धता विशेष से संचारित हो जाता है और स्वभावतः वही संकेतबद्ध स्वर उसके कंठ से फूट पड़ते हैं। सबेरे तड़के औरतें अब भी गाँवों में जाँता चलाती हैं। आटा पीसती हैं और आटा पीसते समय वही धुन गुनगुनाने लगती हैं। ध्वनि-साम्य परिवेश की उपज है और वह साम्य उस क्रिया और ध्वनि की संकेतबद्धता को ही प्रमाणित करता है। यही कारण है कि जाँता चलाते समय, घर बुहारते समय, पानी भरते समय, खेत जोतते समय, बीज बोते समय, उत्सव-पर्व मनाते समय, व्याह रचाते समय, बेटी को बिदा करते समय, झूला झूलते समय, देवी-देवता पूजते समय, सोहर गाते समय, और न जाने कितने-कितने अन्य अवसरों पर साधारणजन वही कर्म और क्रिया करते और वहीं धुनें उन्हीं तौर तरीकों से व्यक्त करते हैं।

सबसे पहले वह धुनें-यानी ध्वनियाँ-केवल धुनें थीं—ध्वनियाँ थी। उन्हें शब्दों की संकेतबद्धता प्राप्त नहीं हुई थी। परन्तु कालान्तर में जब मनुष्य शब्द पा गया, तो उसकी वह धुनें और ध्वनियाँ शब्दों से संकेतबद्धता स्थापित कर सकीं और तभी एक समय

ऐसा आया कि परिवेश-विशेष की क्रिया-विशेष शब्दबद्ध लोकगीत-विशेष में बार-बार, उसी प्रकार व्यक्त होने लगीं। संक्षेप में यही है लोकगीतों के उद्‌गम की वैज्ञानिक विवेचन।

अब मंत्रों पर आइये। मैं देखता हूँ कि बिच्छू झाड़ने और साँप झाड़ने के मंत्र अब भी प्रचलित हैं। लोग भी विश्वास करते हैं कि उनकी पुनरावृत्ति से विष दूर हो जाता है और यह विश्वास अन्धविश्वास की हदतक पहुँच गया है। आप देखेंगे कि लगभग सभी मंत्र शब्दों के समूह होते हैं। बिच्छू झाड़ने का मंत्र, साँप झाड़ने के मंत्र से भिन्न होता है। परन्तु दोनों दो प्रकार के निरर्थक शब्दों के समूह होते हैं। इन मंत्रों में स्थानीय देवी, देवता, गुरू या दैवी शक्ति या आसुरी शक्ति का उद्‌बोधन होता है। इनके विषय में फिर कभी विशेष विवेचन किया जायेगा। यह मंत्र मनुष्य के उस समय के परिवेश के परिचायक हैं, जब वह विष से उद्धार पाने के लिए लालायित था—और जब वह अपने बौद्धिक स्तर पर न पहुँच सका था और केवल अन्धविश्वासों को अपनाकर बाधा-मुक्त होना चाहता था। अन्धविश्वासों की भूमि पर उन व्यक्तियों ने इन मंत्रों को उपजाया था, जो लोककल्याण के लिए उस समय अग्रसर थे और प्रसिद्ध थे और जो गुरु-शिष्य परम्परा से बँधे थे। फिर भी इन मंत्रों ने उस समय मनुष्य को कुछ-न-कुछ बल अवश्य दिया है—चाहे वह अज्ञान-जनित ही क्यों न रहा हो। इन मंत्रों में कोई ऐसे शब्द-संस्कार संचित नहीं मिलते, जिन्हें कला की कोई उपलब्धि कहा जा सके। इसलिए यह मंत्र वहीं पड़े रहे गये, जहाँ और जिस प्रकार अंधकूप में पड़े थे और इसलिए इनका अनुगमन काव्य में नहीं हो सका और न ही इनका लय काव्य में प्रतिष्ठित हो सकी। यह गुरुओं और शिष्यों के कंठ में निवास करते चले आये हैं और अब उनकी श्रुति भी विश्रुत हो चली है। इन मंत्रों से कदापि छंदों की उत्पत्ति नहीं कही जा सकती।

अब वेद मंत्रों की ओर आइये। मैं ऋग्वेद पढ़ रहा था। उसमें इन्द्र, वरुण, इत्यादि-इत्यादि देवताओं की स्तुतियाँ हैं—यहाँ तक कि मूसल का भी स्तवन है। यह मंत्र सार्थक शब्दों के लय-बद्ध संस्करण हैं, जिनमें उस समय के परिवेश का पूरा-पूरा विवरण मिलता है। पढ़ने से पता चलता है कि मनुष्य ने तबतक प्रकृति और उसकी शक्तियों पर विजय पाना प्रारम्भ नहीं किया था। वह सोम को, सूर्य को, उषस को उसी प्रकार स्मरण करता और उद्‌बोधित करता है, जैसे वह सब जीवित शक्तियाँ हों और वह सब उसका दैहिक जीवन कल्याणकारी कर सकते हैं। बारम्बार हमारे ऋषियों ने उनकी वन्दना की है, बारम्बार उन्हें अपने यज्ञ में आमंत्रित किया है और यज्ञ का अंश ग्रहण करने की लालसा उनसे व्यक्त की है। वेदों के मंत्रों में छंद मिलते हैं। अनेकों प्रकार के वे छंद हैं। यहाँ तक कि तीन चरण तक के छंद उपलब्ध हैं। मैं नहीं जानता कि इन मंत्रों की रचना किसने की। परन्तु निश्चित रूप से यह मानना पड़ता है कि यह मंत्र उन व्यक्तियों के रचे हुए हैं, जो परिवेश को पहचानते थे—आदमी की कठिनाइयों से अवगत थे—और उन कठिनाइयों को दूर करना चाहते थे और अपने तत्कालीन समाज को सुख-सम्पदा से भरापुरा देखना चाहते थे। यह मंत्र शुद्ध हृदय की मानवीय

कामनाओं के चिरस्मरणीय स्रोत हैं, जिन्हें शताब्दियों से मनुष्य अपने कंठ में रखकर बार-बार उच्चरित करता चला आया है और अबतक उन्हें पवित्र मानकर, जपकर, परिवेश पर विजय पाना चाहता है। इन मंत्रों से भी मनुष्य को संतोष-सुख मिला है और वह हताश और आहत होकर अकर्मण्य नहीं हो गया। मैं यह नहीं कह सकता कि इन मंत्रों के पहले इनका स्रोत मनुष्य की किस आदिम अवस्था में, किस आदिम रूप में, रहा होगा। कोई विज्ञ ही यह बात बता सकता है। किन्तु अपनी सीमित संतुलित बुद्धि के बल पर विश्वास के साथ मैं यही कह सकता हूँ कि इन मंत्रों का स्रोत भी लोकगीतों में रहा होगा। उस स्रोत का अब पता नहीं है। मेरी राय में यह कहना अवैज्ञानिक रुचि का परिचायक होगा कि यह मंत्र ईश्वर-प्रदत्त अथवा स्वयंभूत हैं। ऐसी कोई सम्भावना अब कल्पित नहीं की जा सकती और न मान्य हो सकती है। अब हम शब्दों की उत्पत्ति का रहस्य भेद चुके हैं और इस सम्बन्ध में हुए विकास-क्रम को लगभग पूरी तरह जान चुके हैं।

छंदों का सम्बन्ध भाषा से है। भाषा स्वर और व्यंजन से संयोजित है। स्वर और व्यंजन परिवेश-विशेष में कर्म और ध्वनियों से उपजे हैं। कर्म और ध्वनियाँ पुनरावृत्ति के कारण संकेतबद्धता पाती रहीं और जग और जीवन का यथार्थ व्यक्त करती रहीं। शब्दों का सम्बन्ध अमूर्त नहीं, मूर्त है। मूर्त जगत् ही उन्हें अर्थ दे सकने में सक्षम हुआ और वह अर्थ भी मूर्त हुआ।

इसीलिए जैसे-जैसे मनुष्य अधिकाधिक अपने परिवेश से परिचित और सम्बद्ध होता गया और उसका कर्म और क्रियाकलाप नयी-नयी दिशाओं में दिन-प्रतिदिन विस्तीर्ण और विकसित होता गया और उसका प्राकृत रूप न्यूनाधिक मात्रा में परिवर्तित होता गया और वह नये-नये पारस्परिक मानवीय सम्बन्ध-सूत्रों में बँधता गया और वह कुटुम्ब, गुट, दल, समाज और जाति-देश में अपना अधिकार-क्षेत्र बनाता गया, वैसे-वैसे उसका शब्द-समूह बढ़ता गया और उसकी भाषा विकसित होती गयी और वैसे-वैसे उसकी प्राकृत लोकगीतावाली अवस्था लोप होती चली गयी और एक दिन वह भी आया, जब मनुष्य को अपने प्राकृत रूप को लगभग छोड़ ही देना पड़ा। तभी मनुष्य ने प्रचलित लोक-ध्वनियों को उनके परिवेश से उठाकर अलग कर लिया होगा और अपना लिया होगा और उन ध्वनियों को भाषा के स्तर पर लाकर उन्हें वहाँ आरोपित कर दिया होगा और तब उन ध्वनियों को सार्थक शब्द समूह मिल गया होगा और वह समूह उसके परिवेश के जीवन से संकेतबद्ध हो गया होगा और उस परिवेश का अर्थ व्यक्त करने लगा होगा। अतएव छंद मनुष्य के संचेष्ट प्रयास की उपलब्धि है, जिसे उसने अपनी भाषा के विकासक्रम के साथ-साथ, अपनी प्राकृत अवस्था के सदियों बाद पाया है। इसलिए कोई भी छंद एक दिन के किसी क्षण की भावावेश की मनोदशा की उत्पत्ति नहीं हो सकता और न है। छंद तो मनुष्य-जाति के सम्पूर्ण जीवन-यापन के विभिन्न क्रियाकलापों की सांस्कृतिक रूपात्मक अभिव्यक्ति है। छंद में ही मनुष्य अपनी मानसिक प्रक्रिया को मूर्त करता है। शब्द उस प्रक्रिया को अपनी द्वितीय बाधित

उत्तेजक शक्ति से प्रकट करते हैं। वह प्रक्रिया तभी दूसरे सामाजिक प्राणी को ग्राह्य होती है और वह उसमें तदनुरूप प्रक्रिया पैदा करती है। संक्षेप में यही है छंद का उद्‌भव और विकास-क्रम।

छंदों का प्रचलन और प्रयोग भी काव्य में खूब हुआ। काव्य वही समझा जाने लगा, जो छंद में हो। परिणाम यह हुआ कि छंदों का भरपूर विकास हुआ। अनेकानेक छंदों की उत्पत्ति हुई। उनके अनेकानेक रूप हुए। उनकी विभिन्न प्रकृति और प्रवृत्तियाँ हुईं। सबका अलग ठाट और वैभव हुआ, सबकी चाल अलग हुईं। सबका सौन्दर्य और सन्दर्भ अलग हुआ। सबकी उपलब्धियाँ अलग हुई। सबकी अपनी अलग-अलग भावभूमि हुई—सबकी अलग-अलग सिद्धि और सफलता हुई। कवियों ने छंदों को अपना सौन्दर्य और स्वरूप दिया और उन्हें अपनी जातीय विशेषताओं से विभूषित किया। जन कवि के प्रयोग से छंद में जीवन का सीधा-सादा चित्रण हुआ। प्रत्येक कवि ने अपनी शक्ति और सामर्थ के अनुसार छंदों का पालन और पोषण किया। किसी कवि ने छंदों में उपमाओं और रूपकों से परिवेश को व्यक्त किया तो किसी ने उत्प्रेक्षाओं—और किसी ने अलंकारों के विभिन्न प्रयोगों से। देखने से पता चलता है कि अपने प्राकृत रूप से हटकर छंदों ने महान् गौरव और गरिमा पायी है।

छंदों की यह परम्परा अबाध गति से सैकड़ों वर्ष चली। अब भी चल रही है, किन्तु मनुष्य और उसके परिवेश अब इतने अधिक बदल गये हैं कि पहले के प्राणवान, जीवन्त और कालजयी छंद अब न मनुष्य को व्यक्त कर पाते हैं—न उसके परिवेश को—न परिवेश से उत्पन्न उसकी मानसिक प्रक्रिया को। छंद छोटे पड़ गये हैं। उनका कसाव-तनाव अभिव्यक्ति के लिए अयोग्य हो गया है। मनुष्य अब न उन उपमाओं और रूपकों से काम लेता है—न उन अलंकारों से कविता को अलंकृत करता है—न वैसी जीवनानुभूति से जीता- जागता है, जिन्हें वह पहले प्रिय समझता था और परिणाम यह हुआ है कि मनुष्य की आज की भाषा पहले की भाषा से बदली है और भाषा के बदलने से छंद टूटे हैं और ऐसी हालत हो गयी है कि कविता छंद-मुक्त हो गयी है—इस परिवर्तन के कारण हैं जीवन-स्तरों पर अनेकानेक प्रभावों का पड़ना, अनेकानेक जातियों और संस्कृतियों के सम्पर्क और संघर्ष का होना, मनुष्य को परम्परा से टूट कर प्रगति की ओर उन्मुख होना, उसका अतीत से विच्छेद होना-वर्तमान से विक्षुब्ध होना, पराजित और पीड़ित होना और उसका खण्डित होते चला जाना, उसका न समाज में ठौर पाना, न देश में स्थान पाना, न विश्व में कहीं होना, आदि-आदि। इन कारणों की तालिका बहुत लम्बी है। उनका गिनाना श्रेयस्कर न होगा।

आज कहीं भी देखिये-नयी कविता छपती है। वह बिल्कुल बदली हुई होती है। न वह छंदबद्ध होती है—न थोड़ी-बहुत परम्पराबद्ध। जैसे उसका नखशिख ही बदल गया है। उसे साधारण पाठक पढ़ ही नहीं पाता। पढ़ने का प्रयास करता है, तो अपना सिर पटक देता है। उसकी समझ में कुछ भी नहीं आता। वह ऐसी कविता पढ़ने का अभ्यस्त नहीं है। इसलिए वह उन्हें पढ़ता ही नहीं, उन्हें कविता ही नहीं मानता। आज

की कविता बौद्धिक हो गयी है। वह बुद्धिवादियों द्वारा लिखी जा रही है। वह बुद्धिवादी विदेशी काव्यप्रभावों से प्रभावित भी हैं। उनकी भाषा का चाल-चलन बदल गया है। वह दूसरे अर्थबोध को व्यक्त करते हैं। वैसा अर्थबोध पहले नहीं था। एकदम कविता बदल गयी है। अब तो कविता को भी अकविता कहने में लोग गौरव समझते हैं और उसे ही युग की काव्यात्मक अभिव्यक्ति मानते हैं। वह कहीं-कहीं लय पर ही चलती है—कहीं-कहीं गद्य की गति से आगे बढ़ती है।

❑

साहित्य में यथार्थवाद

यथार्थवादी कृति साहित्यिक नहीं है, ऐसा विचार प्रचार में है। इस विचार का कारण यह बताया जाता है कि हम आदर्शप्रिय प्राणी हैं। जो कृति आदर्श की ओर उन्मुख नहीं है, वह हमारे किसी काम की नहीं है और हम ऐसी कृति को अपने साहित्य में स्थान नहीं दे सकते। हम चाहते हैं प्रकृति में अपनी आदर्श प्रियतमा का विश्वविमोहन रूप देखना। हमें वही जलनिधि साहित्य में भाता है, जो हमारी प्रियतमा का हिल्लोलित वक्षस्थल दिखाता है। हम उस आकाश को पूजते हैं, जो निरंतर हमारे आदर्श देवता की प्रतिध्वनि से निनादित रहा करता है। वह पहाड़ हमें न चाहिए, जो रूपराशि का चित्रांकन अपने कठोर हृदय पर नहीं करा पाते। वह झरने ही हमें प्रिय हैं, जो उत्तुंग पर्वत से, धर्म का कलरव, प्रवाहित किया करते हैं। यथार्थवादी रचना ईंट को ईंट, पत्थर को पत्थर, फूल को पंखुरियों का समूह और रंगों का एक विस्तार मात्र बताती है। वह प्रिया को लेकर आकाश में विहार नहीं करती। वह रत्नाकार को खारे पानी का स्थल कहती है। वह कल्पना से वंचित है और जीवन की निम्नतम आवश्यकताओं से परिवेष्टित है। वास्तव में यथार्थवादी रचना हमारे मानवीय संस्कारों को उनके विकृत रूप में ही चित्रित करती है, उन्हें परिमार्जित एवं परिष्कृत करके हमारे सम्मुख नहीं लाती; फलतः हम ऐसी रचना का कोई भी साहित्यिक मूल्यांकन नहीं कर सकते। जो वस्तु ऐसी रचना देती है, वह तो हम क्षण प्रति क्षण अपनी इंद्रियों से ग्रहण किया ही करते हैं। इस वस्तु को पाकर हमें अपने जीवन की विषमताओं को भूलने का क्षणिक अवसर तक नहीं मिलता, वरन् हम जीवन के भार से और भी भारान्वित हो जाते हैं। फलतः हम किसी भी रूप में यथार्थवादी कृति को नहीं अपना सकते। यह हुआ यथार्थवादी कृति का साहित्यिक विरोध।

विश्लेषण करने से सिद्ध होता है कि यथार्थवाद के विरोध के उपरोक्त कारण के मूल में मानवीय स्वभाव सर्वांश में काम करता दृष्टिगोचर होता है, सत्य नहीं। मनुष्य जन्मजात ही रूढ़िप्रिय है। वह गत को गौरव देकर, आगत को उस गौरव की छाया में लपेट कर आमत्त को आमत नहीं रखता। वह अपने पूर्व निर्धारित किन्हीं आदर्शों की लम्बी से लम्बी छाया निरंतर आगम तक फेंकते रहने का आदी है। उसे इस संसार की जटिलताओं से ऊब कर किन्हीं मधुर और स्वर्णिम स्वप्नों का पूर्व-निर्मित लोक चाहिए, जहाँ कुछ काल विश्राम कर, वह विस्मृति के आलोक में, सुख का स्पर्श कर सके। मनुष्य की यह अनवरत लालसा और प्रगाढ़ प्रवृत्ति उसे यथार्थवाद से हटाये

रखती है। इसके अतिरिक्त अन्य कारण कोई नहीं है। इसीलिए, जब यथार्थवादी लेखक अपनी विदग्ध लेखनी से समय के सिर से मैली पुरानी ओढ़नी उतारकर आँखों के सामने वास्तविकता का एकदम स्पष्ट अंकन कर देता है, तब आदर्श के सत्ताधारियों के विभिन्न केन्द्रों से क्रोध और विष की फुफकार उमड़ पड़ती है। यह फुफकार स्वार्थ पर आक्रमण होने से जाग्रत हुई है और स्वार्थ ही की रक्षा के लिए यथार्थवादी पर डाली जाती है। हमारे आदर्श के केन्द्र हैं मन्दिर, मस्जिद, गिरजा, न्यायविधायक समितियाँ और अन्यान्य चिर पोषित संस्थाएँ। न्यायालय भी इसी की पूर्ति में संलग्न रहता है। यदि इन केन्द्रों का नग्न और वास्तविक चित्रण होता है, तो अवश्यमेय इनकी नीवें डगमगार्ती हैं और इन केन्द्रों के अधिनायकों की पेट पूजा पर पदघात होता है। इसी एक मूल भावना के कारण से यथार्थवादी कृति का विरोध किया जाता है।

आदर्शवाद अपना काम कर चुका है। उसकी शक्ति क्षय हो चुकी है। वह जिस युग में पैदा हुआ था, वह मिट गया है। उस युग जैसी समस्याएँ नहीं रहीं। वास्तव में उस युग में भौतिकता की ओर ध्यान ही नहीं था। यह गुण था एक अलौकिक Curiosity का। समय पर्याप्त था। मनुष्य ने सारी शक्ति इसी से पृथ्वी से खींचकर आकाश की तरफ कर दी थी। वह धरती को छूकर भी व्योमचारी और शून्यप्रेमी हो गया था। अब नयी समस्याएँ असीम और अपार हो गयी हैं। विज्ञान ने मनुष्य की अलौकिक Curriosity को नष्ट कर दिया है, क्योंकि सूर्य देवता नहीं हैं, वरन् अग्निपुंज हैं, यह उसने सिद्ध कर दिया है। इसी प्रकार अभूतपूर्व एवं आश्चर्यमयी समस्त सृष्टि के रहस्य को अपने अन्वेषणों द्वारा विज्ञान ने इतना सुबोध और गम्य कर दिया है कि विज्ञान के पूर्वापर ज्ञान पर हँसी-सी आ जाती है। फलतः आदर्शवाद का वह धरातल ही जब खिसक गया, तब आदर्शवाद टिक ही कैसे सकता है। यथार्थवाद तो आया है वह आँखें लेकर, जो आसमान की परियों को नहीं खोजतीं, किन्तु उन घटनाओं को टकटकी बाँध कर देखती हैं, जो खूनी जीभ निकाले, पंजे फैलाये, चष्टिकार करके व्योममंडल को सर पर उठाये हैं। इन घटनाओं को लेकर यथार्थवाद आदर्शवाद का पीछा करता है और उसकी नस-नस तड़का देता है। इसी से यथार्थवाद क्रूर है, कठिन है, भौतिक है, विनाशकारी है और दिन-प्रति-दिन की समस्याओं के चित्रण में संलग्न है। वह आदर्शवाद की भाँति स्वप्नों की चादर तानकर नहीं सोता। आदर्शवाद एक विशेष युग की देन थी। वह युग गया; पुनः यथार्थवाद आदर्शवाद को विदा कर रहा है।

उदाहरण के लिए राजा और प्रजा का आदर्श सम्बन्ध लीजिये। राजा एक समय ईश्वर-तुल्य था। बाद को पिता-तुल्य हुआ। फिर तो प्रजा का प्रतिनिधि मात्र रह गया। अब इस बीसवीं सदी में उसे इस प्रतिनिधि पद से भी च्युत कर दिया गया है और उसकी कोई आवश्यकता ही नहीं रखी गयी। राजा का स्थान स्वयं प्रजा-मंडल ले रहा है। समस्त संसार का एक Federation हो, यह गूँज बलवती हो रही है। यही नहीं, भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार की राज्य-व्यवस्थाएँ बन चुकी हैं। सोवियत

यूनियन इनसब में प्रमुख है। यदि कोई लेखक अब भी अपनी साहित्यिक कृति में राजा को ईश्वर अथवा पिता-तुल्य दिखाकर प्रजा को इसलिए दोषी ठहराता है कि उसने उन आदर्शों की अवज्ञा की है और इसलिए वह अपराधी है, तो वह लेखक अपने युग का प्रतिनिधि नहीं हो सकता और देश उसे अपने युग के साहित्यिकों में कोई स्थान न देगा। यथार्थवादी ने साहित्य की इस परम्परागत जड़ता के मोह को मिटाया है; साहित्य को आगामी और प्रगतिशील किया है; जीवन की भौतिकता को जीवन की सार्थकता कहकर पुकारा है। रूसी क्रान्ति का साहित्य और अब का रूसी साहित्य दोनों यह प्रत्यक्षकर देते हैं कि आदर्शवाद बेकार है और यथार्थवाद जीवन की अभिव्यक्ति है। जीवित साहित्य यथार्थवादी साहित्य है; आदर्शवादी साहित्य तो मृत साहित्य है। निस्संदेह इस मृत साहित्य ने देश की प्रतिभाओं को स्फूर्ति प्रदान की थी, किन्तु अब तो वह किसी अर्थ का नहीं रह गया। एक समय था कि भारत में व्यक्ति ही अपनी उन्नति की चरम लक्ष्य था। आध्यात्मिक विकास ही व्यक्ति का आदर्श रहा है। अब व्यक्ति विकास का केन्द्र नहीं रह गया। देश केन्द्र हो गया है। व्यक्ति की सत्ता का मूल्य इसी से है कि वह देश का एक अंग है। देश की भौतिक उन्नति पर विशेष ध्यान दिया जाता है, वह भी इसलिए कि जनसंख्या अधिक हो गयी है और उसके भरण-पोषण और लौकिक जीवन के निर्वाह के लिए यह अत्यावश्यक है कि भूमि की उपज की वृद्धि की जाय। देश का जीवन और विकास व्यक्ति का जीवन और विकास बन गया है। लाखों की तादाद में मौज मारनेवाले महंत और संन्यासी आध्यात्मिक आदर्श का बहाना करके ही तो देश की छाती पर फोड़े की तरह दुखदायी हो गये हैं। वैयक्तिक सम्पत्ति का आदर्श भी मिट रहा है। इन महान् परिवर्तनों को यथार्थवादी आदर्शवाद के चक्कर में पड़कर, यदि न देखे, तो महान् मूर्खता होगी। वास्तव में यथार्थवाद तो इस युग का श्रेष्ठ साधन है, जो जीवन और साहित्य को विकास की ओर उन्मुख किये है।

यह सोचना कि आदर्शों का मोह नहीं जाता, इसलिए इनका परित्याग नहीं हो सकता, महान् बुद्धिहीनता का परिचय देता है। मानवकल्याण की जिस भावना से प्रेरित होकर आदर्शों की सृष्टि हुई थी, जब वह कल्याण की गुंजाइश ही नहीं रह गयी, तब उन आदर्शों का काम तमाम होना ही पड़ेगा। आदर्शों का मोह अज्ञात है। अब आदर्शों के पीछे न दौड़कर चारों ओर की जीवित समस्याओं को सुलझाना है। यह काम वही कर सकते हैं, जो आदर्श-प्रेमी नहीं रहे, यथार्थ के पोषक हैं और साहित्यिक हैं। यदि इस आर्थिक संकट के युग में स्त्री के सामने कोई वही पुराना आदर्श उपस्थित करे, और यह कहे कि नारी नर की चेरी है और अपने बेकार पति की जूतियों की पूजा किया करे चाहे वह खाना-कपड़ा कुछ न दे, तो मैं तो यही कहूँगा कि यह अन्याय है। पति की सहकारिता न मिलने पर नारी भी उसी प्रकार स्वतंत्र है, जिसप्रकार पत्नी की सहकारिता न मिलने पर नर है। ब्याह एक धार्मिक चिर-मिलन है, यह विचार अब नहीं चल सकता। एक के साथ जब दूसरे की नहीं निभती, तब दोनों का विच्छेद अनिवार्य है। ब्याह हो जाने के बाद जितने बदचलनी के उदाहरण देखे गये हैं, उतने ब्याह के पूर्व

नहीं होते देखे गये। ब्याह को तो लोगों ने एक प्रकार की धार्मिक स्वीकृति (License) समझ रखा है। आदर्श बन्धन बहु आलिंगनों का कारण बन गया है। अब सीता का आदर्श देना स्वार्थपरता सूचक मात्र है। वह मूल संकट की शान्ति नहीं करता।

क्योंकि यथार्थवाद इस सदी में शक्तिशाली हो रहा है, इससे इसका साहित्यिक वहिष्कार करने पर भी वास्तव में किया ही नहीं जा सकता। यथार्थवाद को साहित्य में स्थान न देने का तात्पर्य है कि जीवन को वहिष्कृत किया जा रहा है। बुद्धिमानी और उदारता इसमें है कि यथार्थवाद का साहित्य में स्वागत किया जाय और उसका मूल्यांकन नव नियमों से किया जाय। दण्डी और मम्मट अथवा भरत मुनि के सिद्धान्तों को इस युग के यथार्थवाद की कसौटी कदापि नहीं बनाया जा सकता। वे नियम, उपनियम, उस काल की सामाजिकता को दृष्टि में रखते हुए बनाये गये थे। वे भले ही आदर्श नियम हों, फिर भी उनका पालन इस सदी की जटिलताओं के चक्रव्यूह में नितान्त अवांच्छनीय और असम्भव है। ''प्रिय प्रवास'' में काव्य के सम्पूर्ण अंगों का समावेश है, किन्तु इतने पर भी यह महाकाव्य इस युग का प्रतिनिधि जीवन व्यक्त नहीं करता। कवि ने निस्संदेह इसकी रनचा में आदर्श काव्यांगों का दक्षता और कुशलता के साथ दोहन किया है, पर वह अपने जीवित युग से दूर ही अपनी लेखनी को घुमाता रहा है। शोषित और पददलित जनता इसे पढ़कर क्षणभर को अपनी बेचैनी भले ही बिसार दे, किन्तु इसे पढ़कर उसे जड़ जगत् से मुक्ति नहीं मिल सकती। इस युग की विचारधारा के विमुख इस ग्रन्थ की धारा प्रवाहित हुई है और अतीत के अन्तस्तल में मधुसिक्त कृष्ण की गाथा के दोनों कूल छूकर लहराती है। यह न वर्तमान की पीड़ा से पीड़ित मानव की कहानी कहता है, न उसके दिल की बातें। इसमें मिलती है Bardic Literary Consistancy जो जीवन के सच्चे साहित्य से पोषित नहीं है। गुप्त जी का ''साकेत'' और ''यशोधरा'' ग्रन्थ भी इसी श्रेणी में आते हैं। उनका वर्तमान मूल्यांकन स्पष्ट कर देता है कि वे ''प्रियप्रवास'' की कोटि के हैं। जीवन से कतराकर इन्ही सामग्री का संग्रह किया गया है और इस युग के भीषण कोलाहल से दूर रहकर इनकी रचना की गयी है। यह कहना कि वे सांस्कृतिक सभ्यता के आदर्श उदाहरण ग्रन्थ हैं, जो हमारे मनोविकारों को परिष्कृत कर विश्वात्मा के नानारूपों से एकात्मकता स्थापित करते हैं, इसलिए वे पवित्र और साहित्यिक श्रेष्ठता के सर्वप्रथम योग्य हैं, मेरी राय में, बिल्कुल झूठी बात है। हाँ, दिल बहलाव के लिए यह विचार अवश्य अच्छा है। विश्वात्मा से एकात्मकता स्थापित करनेवाली बात छू हो गयी है। न यह युग यह बात समझ सकता है और न उसे ऐसा समझने की फुरसत है। यदि इस युग में मलिक मुहम्मद जायसी पुनः जन्म लेकर एक बार अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ ''पद्मावत'' से भी उत्तम दूसरा कोई एक काव्य-ग्रन्थ उसी प्रेम को लेकर लिखें, तो उनका साहित्य मृत ही समझा जायेगा। वह ग्रन्थ युग का ग्रन्थ न होगा और न यह रामायण का ही युग है। नायिका भेद भी मर गया, मिट गया। प्रसाद ऐसा कलाकार वर्तमान के साँप की चाल नहीं चल सका। प्राचीन नियमों का संग-साथ उन्होंने छोड़ा अवश्य, फिर भी वह यथार्थ जीवन से विमुख ही

रहे। सामने की कोसती-कराहती दुनिया को छोड़कर बौद्ध-युग की कहानियाँ कहने-सुनने में उन्हें मस्तिष्कीय आनन्द मिलता था। उनके नाटकों का यथार्थवाद की परख में, कोई मूल्य नहीं रहता। यदि प्रसाद जी ने बीसवीं सदी के जीवन का नाटकीय तत्त्व ग्रहण करके उसे शब्दांकित किया होता, तो आज वे जीवित युग के एक महान जीवित नाट्यकार होते। ''कामायिनी'' की सृष्टि भी यथार्थवादी गौरव नहीं प्राप्त कर सकती। पंत की अधिकांश रचनाएँ इस युग की रचनाएँ नहीं हैं। उन्होंने ''युगवाणी'' में बौद्धिक विश्लेषण वाली कविताएँ अवश्य दी हैं, किन्तु सबकी सब अपनी धमनियों में युग का रक्त लेकर नहीं बहतीं। इन सब में वही छायावादी स्पर्श रहता है। ''ग्राम्या'' भी यथार्थवादी नहीं है। निराला जी की पूर्वकालीन लगभग समस्त रचनाएँ इस युग का साथ नहीं देतीं। ''राम की शक्ति पूजा'' और ''तुलसीदास'' दोनों ही काव्य और कला की दृष्टि से अतुलनीय साहित्यिक रचनाएँ हैं। हर्ष है कि निराला जी ने यथार्थ से आँखें चार कीं और प्रगतिशील कविताएँ लिखना प्रारम्भ कर किया। उनकी कुछ रचनाएँ तो वास्तव में अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी हैं। युवक-कवियों में से बहुतों ने यथार्थवादी होने का दावा किया है, पर स्वभावत: सब के सब हैं नहीं। महादेवी की रचनाओं में रंग है; कल्पना है; वैचित्र्य है; संगीत है; आत्मसमर्पण है; और है स्त्री-हृदय की आकांक्षा। यह सब है, पर युग का चित्र नहीं है, नहीं है। उनके अतिरिक्त अन्य कवयित्रियों का भी यही हाल है। जिस ओर पुरुष कवि चले जा रहे हैं उसी ओर कवयित्रियाँ भी। बात तो यह है कि किसी ने युग की विचारधारा का विवेचनात्मक अध्ययन नहीं किया और इसीलिए किसी भी महाकवि में उसका पता तक नहीं चलता। प्राचीन की सामग्री को आधुनिकता का रंग देकर अब के कवि साहित्य को जीवित सामग्री नहीं दे रहें है; वे तो साहित्य के साथ महान् अन्याय कर रहे हैं। वर्तमान जीवन को जीवित करने में हिन्दी को अब के कवियों का तनिक भी सहयोग नहीं है। यह बड़े खेद का विषय है। हिन्दी के उपन्यासकार भी इसी रोग के रोगी हैं। आदर्शवाद उनपर चढ़ बैठा है और यथार्थवाद की गरदन जबरदस्ती मरोड़े डालता है। यथार्थ को लेकर चलने का प्रयास करते तो हैं वे लोग, पर अपने को गौरवान्वित करने के लिए आदर्शवाद का पक्ष-समर्थन ही करते हैं। ''निमंत्रण'' में वाजपेयी जी ने इसी का परिचय दिया है। ''पर्दे की रानी'' में जोशी जी ने ''गुरु जी'' के द्वारा यथार्थ का विश्लेषण कराया तो है, पर वह इसीलिए कि उनकी ''निरंजना'' पतित न समझी जाये, वह क्षम्य रहे। एक ''दिन के तारे'' उपन्यास में ही जीता जागता यथार्थवाद मिलता है। नरोत्तमप्रसाद नागर ने यथार्थ का प्रत्येक पहल् उभारा है और अपनी विश्लेषणात्मक लेखनी से उन चरित्रों की सृष्टि की है, जो कागज पर नहीं रहते-सहते, वरन् हमारे चारों तरफ समस्या लिए हुए रोते-चिल्लाते मिलते हैं। नागर जी का यह महत्त्वपूर्ण प्रयोग हिन्दी के लिए हितकर है। इस उपन्यास में जीवन की वर्तमान राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, पारिवारिक, नैतिक तथा स्वभावजन्य दुर्बलताओं की यथार्थवाद की दृष्टि से आलोचना की गयी है। जीवन राम इसका सबसे ज्वलंत उदाहरण है। वह पोर-पोर से यथार्थवादी है। जोशी जी का उपन्यास तो बहुत निम्नकोटि का है। उसकी Technique पुरानी और अंग्रेजी

उपन्यासकारों से उधार ली हुई है। उसमें तर्क और विचार को ग्रहण नहीं किया गया; मुख्यत: ''अज्ञात'' का सहारा लिया गया है। उपेन्द्रनाथ ''अश्क'' और कृष्णचन्द्र ने एकांकी नाटक लिखे हैं, पर उनमें नाटकीय दोष हैं।

दुर्भाग्य तो यह है कि अभी यथार्थवादी लेखक यह सोचकर नहीं लिखते कि उन्हें करना क्या है। उनको अपना एक ध्येय बनाकर अग्रगामी होना चाहिए, केवल सनसनी पैदा कर देना यथार्थ नहीं है। वाजपेयी जी ने यथार्थवाद को बिल्कुल गलत समझा है। जब उन्होंने अपनी मालती के ब्लाउज वगैरह सब उतरवा दिये थे और एक तरह से उसे रज्जन के पिता के कमरे में नग्न ही कर दिया था। जोशी जी ने भी चन्द्रमोहन और निरंजना का होटल वाला सीन खींचकर यथार्थवाद की सृष्टि नहीं की, वरन् अपनी अनभिज्ञता का ही परिचय दिया है। ''दिन के तारे'' में यथार्थवाद फूट-फूटकर भरा पड़ा है। इसका कारण यह है कि नागर जी ने जीवन के प्रत्येक पहलू पर निगाहें डाली हैं और उसका तर्कपूर्ण विवेचन करने पर उपन्यास लिखा है।

यथार्थवाद के कई प्रयोग हो सकते हैं। एक तो यह है कि वर्तमान के प्रति असन्तोष। दूसरा यह कि वर्तमान पर केन्द्रित प्रहार। तीसरा यह कि समता का प्रचार। चौथा यह कि प्रश्नों का उत्तर देना। पाँचवाँ यह कि व्यंग से जनता की चेतनता को जाग्रत करना। छठा यह कि मानवीय व्यवहार के मूल में निहित भावना को उभारकर प्रत्येक कार्य की वास्तविकता को दिखाना। सातवाँ यह कि मानव की महत्ता को स्वीकार करके अन्य किसी सत्ता का बहिष्कार करना। आठवाँ यह कि समस्त मानवजाति सूत्र में बंधकर एक राज्य-व्यवस्था की निर्माता बन जाये। नवाँ यह कि मानव अतीत का नहीं वर्तमान का प्राणी है। इसके अतिरिक्त अन्यान्य प्रयोग भी सम्भव हैं। प्रत्येक यथार्थवादी लेखक का ध्येय कुछ ऐसा ही होना चाहिए, नहीं तो वह कुछ कर नहीं सकता।

यह सही है कि यथार्थवाद अपने प्रथम चरण में विनाश लेकर आता है। जो है उसे ढहाता है। एक तूफान और तहलका उत्पन्न कर देता है। किन्तु शक्ति और साहस को लेकर क्रमश: आगे चलकर जीवन को नये रूप से सहज करके, उसे रहने और उपभोग करने योग्य बना देता है।

❑

'युग की गंगा' की भूमिका

वस्तु-जगत् की मानसिक प्रक्रिया को कवि अपनी भाषा द्वारा कविता के रूप में व्यक्त करता है। किन्तु मानसिक प्रक्रिया को कवि के व्यक्तित्व से परे समझना भूल होगी। वैसे ही कवि के व्यक्तित्व को भी आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों से निर्लिप्त मानना भूल होगी। वास्तव में आर्थिक आधार पर ही तो समाज का निर्माण होता है, देश की राजनीति बनती है, और संस्कृति का अभ्युदय होता है। जब जैसे अर्थनीति होती है, वैसी ही समाज-नीति होती है, वैसी ही राजनीति होती है और वैसी ही संस्कृति और सभ्यता होती है। इसलिए कवि अथवा उसके व्यक्तित्व को अर्थ-नीति का अंश ही समझना चाहिए। कवि की विचारधारा और भावधारा दोनों ही अर्थनीति से निःसृत होती है, इसलिए कवि के व्यक्तित्व को कल्पना-लोकवासी देवता का व्यक्तित्व न समझना चाहिए।

भारतीय साहित्य के इतिहास के अध्ययन से इसकी पुष्टि होती है। एक समय ऐसा था, जब भारतवासी प्रकृति पर अपने ज्ञान की विजय नहीं कर सके थे और वह अपने को धरती का मालिक नहीं समझते थे, तब वह प्रत्येक प्राकृतिक सत्ता को अपने कल्याण के लिए उद्‌बोधित करते थे। उस समय का सम्पूर्ण काव्य जिज्ञासा का काव्य है, उद्‌बोधन का काव्य है; बन्दना का काव्य है; और अपनी रक्षा की कामना का वृहत्तर काव्य है। धरती का कलेजा चीरकर जब भारतवासी अन्न उपजाते थे, तब वह उस अन्न को अपने श्रम का अन्न नहीं समझते थे। अपितु उस अन्न को माता धरती की ही देन समझते थे। धरती ईश्वर की थी, इससे अन्न ईश्वर का हुआ। अतः यहीं से ईश्वरीय काव्य की उत्पत्ति सम्भव हुई, जो क्रमशः दार्शनिक और धार्मिक काव्य की परम्परा बनती गयी। दर्शन ने भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण किये और इसी तरह धर्म ने भी अनेकानेक रूप पाये।

एक समय वह आया, जब मनुष्य ने धरती को अपनी सम्पत्ति समझा। इस अधिकार का परिणाम यह हुआ कि तब मनुष्य की महत्ता उसके कम या अधिक धरती के मालिक होने से मापी जाने लगी। भूमि पर जीवन-निर्वाह करनेवाले व्यक्ति उस भूमिपति के दास हो गये। भूमिपति उनसे अपनी धरती जोतवाता था, बीज बोवाता था, फसल कटवाता था और इनसब के बदले में वह उन लूटबन्दी में किये हुए दासों को खाने को अन्न देता था। तब के साहित्य में यहाँ-वहाँ यह मिलता है कि अमुक के पास इतने दास-दासी थे । यहाँ से सम्पत्तिवान मनुष्य की काव्य-परम्परा का श्रीगणीश होता है।

एक दिन वह आया कि कुछेक शक्तिशाली व्यक्ति अधिक से अधिक भूमि के अधिपति हो गये। तब वह अपनी विस्तृत भूमि का समुचित प्रबन्ध न कर सकने लगे। यही नहीं, सब की फसल का स्वयमेव उपयोग कर सकना भी असम्भव हो गया। ऐसी दशा में उन्होंने अपने विश्वासी अनुचरों को भूमि देना प्रारम्भ किया, और उन्हें ऐसी भूमि दान देते थे, जो उनके काम की न होती थी, और उनकी पहुँच के बाहर होती थी। वे लोग, जिन्हें भूमि इस प्रकार मिलती थी, अपने भूमिदाता को प्रत्येक नियत अवसर पर अपनी सेवाओं से उपकृत करते थे। लगान के रूप में अन्न का निर्धारित भाग भी वे लोग अपने भूमिदाता को देते थे। अब दास-प्रथा का अन्त हो गया था। अत: कालान्तर में स्थान-स्थान पर वैयक्तिक पूँजी का संचय होने लगा और मध्यवर्गी स्वतंत्र श्रेणी की रूपरेखा खिंचने लगी। इसके अतिरिक्त भूमि-पतियों को अपनी विशाल सेना रखनी पड़ती थी, जिसका व्यय वही स्वयं बर्दाश्त करते थे। सेनानायक उच्छृँखल होते थे, साहसिक होते थे, मारने-मरने से न डरते थे, और लूटपाट करके कोष को बढ़ाते थे और स्वयं भी अधिकांश लूटी सम्पत्ति अपने पास रख लेते थे। यह था सामन्ती अर्थनीति की संस्कृति। ऐसे में कवि आश्रयदाता की वीरता का बखान करते थे, उसके प्रभुत्व और वैभव का चित्र खींचते थे, उसके सेनापतियों की गाथाओं का वर्णन करते थे और आतंकित जनता के पतन की कारुणिक अभिव्यक्ति करते थे और जब राजा इतने बलिष्ठ और समृद्धिशाली होने लगे कि उनके विश्व जीतने के स्वप्न सफल होने लगे और विश्व-विजेता की उपाधि से वह विभूषित होने लगे, तब ही सम्भवत: उनमें ईश्वर का आरोप किया गया और उन्हें ईश्वर का प्रतिनिधि भी घोषित किया गया। एक ओर ईश्वर की प्रेरणा का काव्य निर्मित हो रहा था और दूसरी ओर ईश्वर के प्रतिनिधि मानव का काव्य भी तैयार हो रहा था।

इसी समय धर्माधिकारियों का अभ्युत्स्थान भी हो रहा था। जैसे सामन्तों के पास भूमि का विस्तार बढ़ रहा था और उसकी रक्षा का भार सेना के ऊपर सौंपा जा रहा था, वैसे इन धर्मात्माओं के पास भी धरती का विस्तृत क्षेत्र आ रहा था, और वह उसका सामन्तों की भाँति ही प्रबन्ध कर रहे थे। उत्तरोत्तर शक्ति ग्रहण करके यही धर्मात्मा देश की अर्थनीति में हस्तक्षेप करने लगे और सामन्तों के घरानों में प्रवेश करके उनकी राजनीति को भी अपनी तरह से प्रभावित करने लगे। इसी से इस समय के साहित्य में इन महापुरुषों का भी अंकन मिलता है। सम्भवत: तभी से गुरु की कल्पना हुई है, और आगे चलकर यही गुरु देश की दशा में महापरिवर्तन लाने का कारण हुआ है। साहित्य में भी यह गुरु दिखायी देता है।

एक और श्रेणी रह जाती है। वह है व्यापारियों की। पहले तो गाँव में ही गाँव की माँग की वस्तुएँ बनीं, फिर बाजारें लगने लगीं और दूर-दूर से वस्तुएँ आने-जाने लगीं। व्यापारियों के दल और वर्ग स्थापित होने लगे। अपनी लाभ-हानि की प्रवृति से प्रेरित होकर वह भी संघर्ष करने लगे। उन्होंने अपने कल्याण के न्यायों की रचनाएँ करायीं। खर्चीले सामन्तों तथा राजाओं को वह ऋण देने लगे। अत: वही हुआ कि वह भी देश

की अर्थनीति में हस्तक्षेप करने लगे, पूँजीवाद के आने पर जो अब और भी बढ़ गया है।

पिछला समस्त भारतीय साहित्य केवल मात्र ईश्वर, भूपति, पुरोहित, चमूपति और व्यापारियों के संसार की मानसिक प्रक्रिया का साहित्य है, इससे कोई इनकार नहीं कर सकता। जब से ईस्ट इण्डिया कम्पनी के चरण पड़े, तब से लेकर आज तक सबसे प्रबलतम शक्ति साम्राज्यवाद की हुई है। और उसी दुर्दम साम्राज्यवाद की कुटिल नीति से नत्थी होकर राजे-महाराजे और पूँजीपति देश की स्वतंत्रता की लड़ाई में रोड़े अटकाते हैं। वह नहीं चाहते कि साम्राज्यवाद जाये। क्या पूँजीवाद, क्या सामन्तवाद, दोनों ही अपनी भलाई इसी में देखते हैं कि एक तीसरी शक्ति नीचे से उठती हुई जनता को कुचलती रहे, ताकि वह जनता असफल रहे, अन्यथा सफलता प्राप्त करके जमीन उसकी हो जायेगी, जो जोतेगा, और मिलें उसकी हो जायेंगी, जो उसमें श्रम करेंगे।

अत: अब देश की विकासोन्मुख अर्थनीति के कारण निम्नांकित वर्ग बन गये हैं, जो एक-दूसरे के विरोधी हैं :-

1. जमींदार और किसान।

2. मिल मालिक और मजदूर।

3. साम्राज्यवादी और स्वतंत्रताप्रेमी वर्ग।

इसके अतिरिक्त साम्राज्यवाद ने नीचे लिखे और भी वर्ग अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए कायम कर दिये हैं :-

1. बहुसंख्यक जातियाँ और अल्पसंख्यक जातियाँ।

2. सवर्ण हिन्दू और मुसलमान।

3. पाकिस्तान और हिन्दुस्तान।

4. पदाधिकारी और साधारण जन।

इसका परिणाम भी वही हुआ कि अब हिन्दी में वर्ग भेद के साहित्य की रचना शुरू हो गयी है। इसका भी एकमात्र कारण देश की अर्थनीति की है।

यह तो हुई अर्थनीति के कारण वैसी मानसिक प्रक्रिया की बात।

अब देखना यह है कि आर्थिक आधार के बदलने से मानसिक प्रक्रिया किस-किस रूप में और किस-किस तरह से व्यक्त हुई है।

वीरगाथा-काल में वीरों के जीवन से ही जनता का जीवन सम्बन्धित था। इस हेतु मानसिक प्रक्रिया, भाषा में वीरों की विरुदावली के रूप में व्यक्त हुई है, वैसे ही शब्दों का कवियों ने प्रयोग किया है, जिनसे रणध्वनि साकार होती है। आक्रमण और प्रत्याक्रमण का विस्तृत वर्णन भी प्राप्त होता है, सेनाओं का प्रवाह और तूर्यनाद दोनों का निरूपण भी हुआ है।

भक्तिकाल की आर्थिक व्यवस्था, जनसाधारण की दृष्टि से अच्छी न थी।

जनसाधारण को सामन्तों से सुख-सुविधा अप्राप्य थी। उनका कोई सहारा न रह गया था। आदर्श चरित्रधारी नृपति अध:पतन में पड़कर मुगलसम्राट से मेल-मिलाप करके, वैभव की चकाचौंध बनाये रखना चाहते थे। फिर ईश्वर का काव्य संस्कृत-साहित्य में पर्याप्त मात्रा में विद्यमान था, इससे जन-कवियों ने जनता की आर्थिक व्यवस्था से क्षुब्ध होकर सगुण और निर्गुण ब्रह्म का आश्रय लिया और जनता को राम और कृष्ण के चरित्र में भुलाने और रमाने लगे। उधर तो राजाओं का वैभव-विलास था और उनकी रति-केलि थी। इधर उसके अनुरूप विद्यापति की राधा माधव की शृंगारी कविता में रति-केलि थी, जो जनता की मानसिक तृप्ति के लिए पूर्णरूपेण समर्थ थी। तुलसी ने अभाव से पीड़ित, अच्छी राज-व्यवस्था से वंचित और चरित्रादर्श व्यक्ति के अनुकरण के लिए आकुलित जनता को रामायण दी। जनता के आर्थिक अभाव से प्रेरित होकर ही तुलसी ने स्थापित मुगलराज्य-वैभव के समक्ष राम-राज्य का काव्यमय रूप स्थापित किया। मुगलराज्य में दुर्बलताएँ थीं, किन्तु कवि के लिए रामराज्य में कोई भी दुर्बलता न थी। जनता ने इस पलायन को जीवन के रूप में ग्रहण किया। और क्योंकि तुलसी की यह मानसिक प्रक्रिया जनसाधारण के जीवनभाव की प्रक्रिया थी, तत्कालीन जनभाषा अवधी के सरल शब्दों में दोहा-चौपाई का जामा पहनकर व्यक्त हुई। सूर ने कोई चरित्र नहीं गढ़ा। उन्होंने कृष्ण का लड़कपन, प्रेम और विरह चित्रित किया है। जनता ने इनके बालकृष्ण में अपने बालकों की काल्पनिक क्रीड़ाओं का प्रतिबिम्ब पाया, कृष्ण और गोपी के प्रेम-विरह में अपना प्रेम-विरह पाया। समुपस्थित राज्यवर्ग का केलिकलाप जनता को दुर्लभ था, इस हेतु सूर-रचित कृष्ण के केलि-कलाप में जनता की आसक्ति हुई। जनता इसमें अपना भौतिक दु:ख भूली रही। मीरा ने तो इतनी मादकता और ममता कृष्ण के प्रेमानुराग में व्यक्त की कि सूर और तुलसी में अप्राप्य मादकता और मोह भी जनता को मीरा के पदों द्वारा मिल गया। तुलसी, सूर, मीरा और विद्यापति की प्रक्रिया काल्पनिक रूप लेकर अवश्य प्रकट हुई, किन्तु वह थी अपने रस-रूप में अभाव की पूर्ति की क्षमता रखनेवाली। कबीर की मानसिक प्रक्रिया सूर और तुलसी की प्रक्रिया का नकारात्मक रूप लेकर निर्गुणब्रह्म के निरूपण में व्यक्त हुई। उसमें बुद्धि, तर्क, संशय और विचार का पुट था, किन्तु वह समुपस्थित राजकीय जीवन के सदृश जनता को जीवन दे सकने में असमर्थ थी।

रीतिकाल में जनकवि कोई नहीं हुआ, क्योंकि जनता स्वयं उभर नहीं पायी थी, इसके विपरीत ''मुगल साम्राज्यवाद'' से समझौता करने के बाद कुछ समय के लिए भारतीय सामन्तवाद सुख की साँसें लेने लगा। राजाओं की प्रशंसा के गीत गाये जाने लगे, और नायिकाओं के हाव-भाव, कटाक्षों आदि के वर्णन से चाटुकार कवि अपने आश्रयदाताओं को रिझाने लगे। रामविलास जी (डॉ० शर्मा), के इस कथन में इतनी सत्यता है कि कोई इससे इनकार नहीं कर सकता। वास्तव में समस्त रीतिकालीन काव्य सामन्तों की मानसिक प्रक्रिया का काव्य है। वह मुगल साम्राज्यवाद के वैभव को देखते थे और उसकी अनुकृति करते थे, किन्तु कर न पाते थे। इससे वाणी-व्यसन के रूप में

ही, आश्रित कवियों द्वारा ऐसी कविता की माँग किये रहते थे, जो जनसाधारण की पहुँच से परे हो और जिसमें वही शानबान हो, जो राजाओं के अनुरूप हो। तथापि आश्रित कवियों को संस्कृत के काव्य-ग्रन्थों की शरण लेनी पड़ी, और तब उन्होंने रस और अलंकारों की भरमार से राजदरबारों को पाट दिया। उन कवियों के पास कोई नवीन जीवन-दर्शन न था, न कोई विचार-दर्शन ही था। केवल कलाचातुरी और आचार्यत्व था।

इसके बाद हिन्दी का आधुनिक युग प्रारम्भ होता है। विलायत के व्यापारियों ने पहले तो यहाँ का तैयार माल ले जाकर विलायत में बेंचा, और इसतरह अमीर बनते रहे कि वहाँ उनके खिलाफ कानून तक बन गया कि उनका सारा व्यापार नष्ट हो जाये। किन्तु बाद को जब वहाँ औद्योगिक क्रान्ति सफल हुई, और वहाँ का तैयार माल बाहर ले जाने की आवश्यकता हुई, तब हिन्दुस्तान में ही उसको ढकेला गया। यह अहितकर नीति थी, क्योंकि यहाँ का कच्चा माल सस्ते में क्रय करके, उससे कई गुने लाभ पर फिर उसे यहाँ लाकर विक्रय करने से अधिक धन मिलता था। श्री रजनी पामदत्त ने अपनी "India Today" में इनकी विस्तृत आलोचना की है। उससे पता चलता है कि भारत के उद्योग-धन्धों में रत रहनेवाले श्रमिकों का शोषण करके अंग्रेजों ने उन्हें वहाँ से भगा दिया और वे खेत जोतने-बोने में लग गये, और इसतरह यहाँ का सफल उद्योग-धन्धा चौपट कर दिया गया। यदि अंग्रेज बहादुर ऐसा न करते, तो इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रांति कदापि न सफल होती। यहाँ के धन ही से वहाँ की औद्योगिक क्रांति सफल हुई थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने प्रथम बार इस दुर्नीति को देखा। वह यह बहुत ही स्पष्ट रूप से देख तो सके, किन्तु अंग्रेजों के रेल, तार और शिक्षा केन्द्रों के स्थापित करने के काम से थोड़ी देर के लिए भुलावे में भी पड़े। यही कारण है, वह कभी-कभी अंग्रेजी राज्य के गुण भी गाने लगते हैं। किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि उन्होंने पहले-पहल अंग्रेजों की इस अर्थनीति को समझा और जनता के लिए अंग्रेज-विरोधी रचना करने लगे। उनकी मानसिक प्रक्रिया ने सूर-तुलसी की मानसिक प्रक्रिया का रूप नहीं लिया, क्योंकि वह पहले भौतिकवादी थे। उनमें परलोकवाद और आदर्शवाद की कल्पना चाहे जिस मात्रा में रही हो, किन्तु वह जनता के दु:ख को भूलने के लिए दुनिया को छोड़कर जाने की तैयार नहीं थे। सूर और तुलसी ने निजकालीन अर्थनीति को इसतरह नहीं देखा था, जैसा भारतेन्दु ने पहले-पहल देखा। अत: भारतेन्दु-काल ही से आधुनिक हिन्दी-कविता का भौतिकवादी, शोषण-विरोधी इतिहास प्रारम्भ होता है।

तत्पश्चात् द्विवेदी-युग आता है। भारतेन्दु का अंग्रेज-विरोधी स्वर और ऊपर उठा। ''भारत भारती'' में इसके प्रमाण मिलते हैं। किन्तु यह स्वर सुधारकों का-सा स्वर है, मर्यादावादियों का-सा स्वर है, इस स्वर में किसान-मजदूर का स्वर नहीं है, उस स्वर की प्रक्रिया है, लेकिन मन्द शब्दों में। सबल शब्दों में इसकी प्रक्रिया प्रेमचन्द में हुई है। उन्होंने पहले-पहल भारतेन्दु की बीजारोपित साहित्यिक अर्थनीति को पूरी तरह ग्रहण किया और अपने उपन्यासों में उसका चित्रण करने लगे। ''सेवा सदन'' में देश की

आर्थिक व्यवस्था की पृष्ठभूमि वर्तमान है। ''रंगभूमि'' में उद्योग-धन्धों की प्रक्रिया का समावेश है। ''कर्मभूमि'' में लगानबन्दी और अछूतों के आन्दोलनों का चित्रण है। ''प्रेमाश्रम'' में जमींनदार और किसान के द्वन्द्व को उभारा गया है। ''गोदान'' में महाजनी सभ्यता का किसान की प्रक्रिया के रूप में महान् कथानक है। किन्तु यह सब गद्य में है। प्रेमचन्द जैसा अन्य व्यक्ति कोई नहीं हुआ, जो उनके समकालीन रहकर उसी दृष्टि से पद्य में वही प्रक्रिया प्रकट करता। कविता में जो प्रक्रिया आयी, वह बिल्कुल दूसरे प्रकार की है। प्रथम महायुद्ध के बाद हिन्दी-कविता में छायावाद का प्रवेश हुआ। यह छायावाद पूँजीवाद के प्रसार के कारण सम्भव हुआ। पूँजीवाद ने व्यक्ति की स्वतंत्रता घोषित की, किन्तु वह व्यक्ति को नये शोषण से अधिकाधिक जकड़ने लगा। इसलिए पूँजीवादी अर्थनीति के कारण व्यक्ति स्वातन्त्र की प्रक्रिया का काव्य रचा जाने लगा। ऐसे काव्य के लिए भारत का वैभवपूर्ण भूतकाल था, दार्शनिक क्षेत्र था, राजनैतिक समस्याएँ थीं, वर्गसंघर्ष था और था विषमताओं से परेशान होकर कल्पना की शरण गहना। कवि लोग अपनी आशा और निराशा के गीत गाने लगे। पन्त ने ग्रंथि लिखी। वह उछ्वास में रोये। निराला ने भी परिमल की किन्हीं-किन्हीं रचनाओं में वैसी ही निराशा प्रकट की। किन्तु वह आध्यात्मवाद का सहारा लेकर समुपस्थित अर्थनीति के विद्रोह में कविता लिखने से अधिकतर चूकते ही रहे। यही हाल पंत का रहा। प्रसाद तो गत वैभव में ही समा गये और खो गये। व्यक्ति-स्वतंत्र्य को व्यापक बनाने में प्रसाद ने उसे गत वैभव का साम्राज्य दिखाया, पंत ने उसे कल्पना के सौन्दर्य की अनूठी झाँकी दिखायी, और निराला ने उसको आध्यात्मिक लोक में विचरण कराया। ऐसा होना अनिवार्य था, क्योंकि अभी तक भारत ने राजनैतिक आन्दोलन करके भी साम्राज्यवादी अर्थनीति को जनसाधारण की दृष्टि से नहीं समझा था। नेता हिन्दू-मुस्लिम एकता चाहते थे, किन्तु वह दिल की सफाई के आधार पर ही, किसी एक अर्थनीति के आधार पर नहीं। वह अंग्रेजों से स्वराज्य लेना चाहते थे, किन्तु यहाँ-वहाँ किसानों का मोर्चा बनाकर और नमक कानून तोड़कर। असहयोग-आन्दोलन अहिंसात्मक था ही और निस्संदेह इसने राष्ट्रीय जागरण में एक बहुत बड़ा कार्य किया भी है। इसलिए इसकी महत्ता भले ही रहे, किन्तु इससे साम्राज्यवादी अर्थनीति का सीधा, सामने का मोर्चा नहीं था, इसलिए यह आन्दोलन भी एक आदर्शवादी होकर रह गया। इस आन्दोलन की समाप्ति नेताओं के मनोविकारों में हुई। देश की जनता को अब भी अर्थनीति से आँखें चार करने का अवसर नहीं मिला था, तब बेचारे हिन्दी के कवि कैसे उस अर्थनीति की प्रक्रिया का सबल और स्वस्थ्य काव्य देते। यही कारण है कि इन छायावादी और रहस्यवादी कवियों में अमूर्त सौन्दर्य विशेष रूप से मिलता है। भाव और भाषा दोनों ही व्यक्ति-स्वातंत्र्य य की उँगली पकड़कर असाधारण की ओर बढ़ गये हैं।

किन्तु यह व्यक्ति-स्वातंत्र्य केवल बुद्धिजीवियों को प्राप्त हो सका और वह मुक्त गगन में विचरते रहे। किसान और मजदूर तो फिर भी अर्थनीति के बन्दी बने रहे। उनको नाममात्र की स्वतंत्रता मिली, लेकिन शोषण ने उन्हें अपने बाहुपाश में पुनः

जकड़ लिया और तबतक द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। पिसा हुआ किसान और पिसने लगा। चुसा हुआ मजदूर और चुसने लगा। मध्यवर्गीय व्यक्ति में घोर असन्तोष व्याप्त गया। नेता जेल में बन्द कर दिये गये। 1942 की आग भड़की और जनता ने विद्रोह किया। किन्तु वह भी दबा दिया गया। मनमाना चन्दा वसूल किया गया। भारत में यद्यपि युद्ध न था, किन्तु मित्र राष्ट्रों की लड़ाई के लिए उसे युद्ध-सामग्री तैयार करना पड़ा। आन्तरिक शांति स्थापित रखने के लिए विशेष कानून बने। आर्डिनेन्सों के घोड़े दौड़े। कंट्रोल्स से जनता बाँध दी गयी। लगातार छः साल तक जनता बराबर पिसती रही, पूँजीपतियों ने चोरबाजारी करके अपरिमित धन कमाया। अफसरों ने घूस ली। कई आई० सी० एस० इस अपराध में पकड़े गये। बंगाल के भूतपूर्व गवर्नर भी दोषी निकले। भारतीय सैनिक बाहर गये और विदेशों में जाकर वहाँ उन्होंने स्वतंत्र देश की अर्थनीति और गुलाम देश की अर्थनीति का अन्तर देखा। विद्यार्थी वर्ग भी सचेत हो गया। रियासत की जनता भी जाग पड़ी। यह क्यों हुआ? इस सबका एकमात्र कारण यह है कि अब अर्थनीति के यथार्थ दृष्टिकोण को सब समझने लगे हैं, और इसी पर हर ओर से आक्रमण के लिए सब तैयार हैं। इस तैयारी का नमूना नौसैनिकों के विद्रोह में मिलता है, डाकियों की हड़ताल में मिलता है, सिपाहियों की भूख हड़तालों में मिलता है, हवाबाजों की हड़तालों में मिलता है, मिल मजदूरों की लम्बी-लम्बी हड़तालों में मिलता है। यहाँ-वहाँ हर तरफ किसान सभाओं की आवाजों में मिलता है। बंगाल का तेभागा-आन्दोलन भी यही सिद्ध करता है। त्रावणकोर, अमलनेर और हैदराबाद में हुए जनविरोधी लोमहर्षक अत्याचार की कहानी भी यही बताती है। काश्मीर भी दहाड़ उठा। इन सब से यही नतीजा निकलता है कि अब वास्तव में समस्त भारतीय जनता साम्राज्यवादी अर्थनीति की विरोधी हो गयी है और उसको मेटकर ही चैन लेगी।

काव्य में इस नये जागरण की प्रक्रिया भी बिलकुल नयी हुई है। अब जो कविताएँ लिखी गयीं, वह छायावादी और रहस्यवादी कविताओं से सर्वथा भिन्न हैं। स्वयं रहस्यवादी और छायावादी कवि ही, पंत और निराला, इस ओर झुक पड़े। इन दोनों में निराला ही प्रबल वेग से पूरी तरह से जनता की आवाज लेकर सामने आये। इस समय निराला की मानसिक प्रक्रिया उनकी पूर्व की प्रक्रिया से सर्वथा अलग ही है।

हिन्दी का यह युग समाजवाद, यथार्थवाद, प्रगतिवाद और मार्क्सवाद का युग है। जनता ने साम्राज्यवादी मोर्चे के विरोध में अपना नया बलवान मोर्चा बनाया है और साम्राजवादी अर्थनीति का अन्तकाल आ गया है। यदि ऐसे में भी हिन्दी के वर्तमान कवि इस जनजीवन में अपना काव्य-योग नहीं देते, तो वह अपमानित और अवहेलित होंगे और परम्परा अब अवरुद्ध होकर विश्राम ले लेगी। जो साहित्यिक इस नये काव्य के विरुद्ध मोर्चा बनाकर उसे मिटा देना चाहते हैं, वह असफल तो होंगे ही, किन्तु अपनी भूल का निराकरण करने हेतु कलंकी की उपाधि भी लेनी होगी। आनेवाली पीढ़ी के लोग उन्हें क्षमा नहीं कर सकते।

इस सब बातों से स्पष्ट हो जाता है कि अब हिन्दी की कविता न रस की प्यासी

है, न अलंकार की इच्छुक है, और न संगीत की तुकान्त पदावली की भूखी है। भगवान अब उसके लिए व्यर्थ हैं। आज जिसके कि राजा शासक हैं, पूँजीपति शोषक हैं। अब वह चाहती है, किसान की वाणी, मजदूर की वाणी—और जन-जन की वाणी।

अत: इसी प्रक्रिया को लेकर मैंने भी प्रस्तुत संग्रह की कविताएँ रची हैं। इनमें ईश्वर का मखौल है, इनमें समाज की अर्थनीति के विरुद्ध प्रहार है, इनमें कटुजीवन का व्यंग है, साथ ही साथ प्रकृति का किसानी चित्रण भी है और देश की जागृति-शक्ति का उबाल है। पलायनवादी परम्परा की न तो ये रनचाएँ हैं और न हो सकती हैं। जिन्दगी की भीड़ की इन कविताओं में जनता के मोर्चे की प्रतिध्वनि है।

अन्त में मैं अपने परममित्र श्री शमशेरबहादुर सिंह का चिरकृतज्ञ हूँ कि जिन्होंने इस संग्रह के प्रकाशन के लिए मुझे बाध्य किया और मुझसे पांडुलिपि मँगवाकर प्रकाशक को दी।

❑

निराला के गीतों का गठन और उनके सौन्दर्य की गरिमा

मैं इधर कई महीनों से निराला के गीत पढ़ रहा हूँ, पढ़ ही नहीं, गुन भी रहा हूँ। जितना पढ़ता हूँ, जितना गुनता हूँ, उतना ही अधिक समझता हूँ, उतना ही अधिक प्रभावित होता हूँ। मैं दूसरों की नहीं कहता, अपनी कहता हूँ। मुझे गीत जी-जान से प्यारे लगते हैं।

इनमें से कोई बड़े तगड़े तन का है—हृष्ट-पुष्ट, बलिष्ठ। कोई बना-सँवरा रसिया छैल-छबीला है। कोई गहन गूढ़ चिन्तक है। कोई दार्शनिक है। कोई युग-चेता और कोई युग-द्रष्टा है। कोई 'कंठ-लगी उरगी' है। कोई कठोर मंगला वेश का पार्वती है। कोई 'स्तर-स्तर सपरिसरा' वसंत-श्री है। कोई 'गंध से गले' कमलों का सरोवर है। कोई शारदीया है, तो मृणाल पर मुग्ध नयन खोलता है। कोई पावस है, तो 'अविरत रिमझिम वीणा द्रिम-द्रिम' का भाव-बोध उभारता और भरता है।

वेश-विन्यास, केश-कलाप, आयताकार नयन, अनुरागी कपोल, रसपायी ओठ, दृढ़व्रती कर-पद के सुरुचिपूर्ण संचालन—और न जाने क्या-क्या, कितना-कितना, सबका-सब एक साथ साकार हो जाता है इन गीतों में। काल पर चढ़े, कला के ये गीत अमर प्राण के गीत हैं।

निराला वे अपने गीतों में जग, जीवन, ज्योति, दाह-निदाघ, हास-हुलास, प्रकृति-पुरुष, परम्परा-प्रगति, मन-विवेक, भाव और बुद्धि, हर्ष और मर्ष, अनालाप और आलाप, ऋतु और अऋतु, देश और दिशा को सर्वथा नवीन लय और तान से जीवंत किया, जगाया और सिद्ध किया है।

इन गीतों में कथ्य और शिल्प का सार्थक और नैसर्गिक समन्वय हुआ है। कथ्य के अनुकूल शिल्प है और शिल्प के अनुकूल कथ्य है। न कथ्य पीछे है, न शिल्प। न कथ्य आगे है, न शिल्प। जिस ऊँचाई को कथ्य पहुँचता है, उस ऊँचाई को शिल्प पकड़ता है। जिस सूक्ष्म की अवतारणा कथ्य करता है, उस सूक्ष्म को शिल्प प्रदर्शित करता है। जब कथ्य सहज होकर मैदान में धूप-हवा की मस्ती में विचरण करता है, तब शिल्पी उतना ही सहज और मस्त होकर गमन करता है।

प्रत्येक गीत एक नया मूर्ति-विधान, एक नया संगीत-वितान, एक नया सौन्दर्य-विधान प्रस्तुत करता है। प्रत्येक गीत की भाषा चित्रमयी, रुचि-चित्रमयी और चरित्रमयी है।

इन गीतों से हिन्दी की खड़ीबोली को बल तो भरपूर मिला ही है, गुरु और गौरव स्थान भी मिला है। ये गीत वहीं आसीन हैं, जहाँ सूर, तुलसी और मीरा के दीर्घजीवी गीत आसीन हैं। इन गीतों का स्वर और स्वभाव, भाव और प्रभाव चाहे जितना अधिक सूर और तुलसी के गीतों के स्वर और स्वभाव, भाव और प्रभाव से बदला हुआ हो, लेकिन ये उन गीतों से किसी भी प्रकार से कम नहीं हैं। समय और साधना की दूरी भी इन्हें उन गीतों से अलग नहीं कर सकी। निराला के गीत परम्परा को आगे बढ़ाते हैं और प्रगति की परम्परा से जोड़ते हैं। निराला के गीत 'उखड़े हुए लोगों' के गीत नहीं हैं। न वह भारतीय मानस से उच्छिन्न विदेश के मानस से उपजे गीत हैं। उन्हें वही रस और रूप, ओज और आलोक मिला है, जो गीतों को भारतीय काव्य में मिलता रहा है।

इन गीतों में श्रम और प्रयास के, साधना और सिद्धि के उदात्त आयाम मिलते हैं। निराला ने उन्हें भारतीयता में डूबकर-उबरकर उपजाया और गाया है। ये गीत निराला के जीवन के यज्ञ के गीत हैं। इनमें जीवन का काठिन्य है, जीवन की साधना है, जीवन का गाम्भीर्य है, जीवन का संयमन है, ज्योति का आचरण है, योग-वियोग और भोग का संगमन है—जैसा कहीं अन्यत्र सुलभ नहीं है।

ये गीत सहज स्फुरण के क्षण के क्षण-भंगुर प्रदीप के गीत नहीं हैं। निराला ने सजीव सौन्दर्य और रस-सिद्ध वैभव को त्याग, तोष, करुणा और आलोक से पहले शुद्ध, सात्विक और शांत किया है और तब इनके विराट् स्वरूप को शब्दों में ढालकर शिल्प से सँवारा है और इन्हें गीत बनाया है। यही कारण है कि निराला के गीत अधिकांश व्यक्तियों को दुरूह लगते हैं। वैसे ये गीत दुरूह हैं नहीं। दुरूहता तो भाव और विचार, बोध और भाषा पर अधिकार न होने से उत्पन्न होती है। निराला इस अधिकार के धनी और पारंगत प्रयोगकर्त्ता थे। भला उनके गीतों में दुरूहता कैसे आ सकती थी। इनको समझना, इन्हें समझकर ग्रहण करना निश्चय ही एक तपस्या है। कोई चाहे कि वह इन्हें सहज ही, पढ़ते ही समझ ले और इनका आस्वाद पा ले, तो निश्चय ही उसे निराश होना पड़ेगा।

ये गीत विशाल वट-वृक्ष के व्यक्तित्व के छोटे फल के बीज-गीत हैं। यह बीज-गीत जब हृदय में पड़ते हैं, तब इन्हीं से इनके सौन्दर्य के नये-से-नये विशाल वट-वृक्ष निकलते हैं। न बीज-गीतों को सिकुड़ गये व्यक्तित्व के गीत कहना सर्वथा गलत होगा। ये गीत रूचिर रचना के गीत हैं, पके-पकाये फलों के रस-भरे अङ्गों के गीत हैं, बंद नयनों के स्वप्नों के सजीव संगठन के गीत हैं, निश्चय ही कमल के कोषों के गठन के गीत हैं। न इनमें वाक्जाल है, न इनमें व्यर्थ का विस्तार है। न इनमें अप्रासंगिक कलरव और कोलाहल है। ये गीत भाव और भाषा के मर्म-भरे गीत हैं। ये गीत राष्ट्रभाषा हिन्दी के विश्वचारी राजदूत हैं। ये गीत विज्ञ, वैज्ञानिक, सिद्ध सरस्वती के उन्नायक गायक के गीत हैं।

यह बात नहीं है कि मैंने निराला के सब गीत समझ लिये हैं। कुछ को पूरा समझ सका हूँ, कुछ को कम, कुछ को बिल्कुल नहीं। मैं इसे अपनी शिक्षा की कमजोरी

समझता हूँ। मैं इसे अपने धैर्य की दुर्बलता समझता हूँ। यह कम अचम्भे की बात नहीं है कि इसपर भी ये अनसमझे गीत समझे गीतों की तरह ही मुझे उरेहे रहते हैं, जियाये रहते हैं, अपना बनाये रहते हैं। भूल जाता हूँ कि मैं कहाँ हूँ, क्या कर रहा हूँ। इस लोक से उड़कर भाव-लोक में पहुँचकर मैं आनन्द में डूब जाता हूँ। यह निराला की करामात है। तभी यह कमल को मात्र कमल न कहकर कह सके–

'गन्ध के गले सँवरे
फूल रश्मि के तन के
यौवन की अमर कड़ी
विरह की भरी चितवन
करुण मधुर ज्योति-पतन
और अलख लेखन
आँखें हैं बड़ी-बड़ी!'

तभी वह धुँधलके के समय के प्राकृतिक सौन्दर्य को देखकर कह सके–

'तान-तरल तारक-तनु की अति सुघराई!
तिमिर गहे हुए छोर, खिंची हुई तुहिन-कोर
बंदी है भानु-भोर, किरण मुस्कराई!
पथिक की थकी चितवन, थिर होती है कुछ क्षण
चलता है गहे गहन पथ फिर दुखदायी!
आते हैं पूजक दल, चुनते हैं फूल सजल
भरती है ध्वनि से कल बीथी अमराई!'

इस एक गीत में जितना हृदयग्राही मार्मिक निरूपण प्रकृति का है, उतना ही हृदयग्राही मार्मिक निरूपण पथिक का भी है, जो उस प्रकृति को देखता है और फिर जीवन के दु:खदायी पथ पर चल देता है। व्यक्ति के दु:खी जीवन को लक्ष्य कर कवि ने सामाजिक जीवन को भी उसी प्राकृतिक सौन्दर्य के स्तर से उभारा और झलकाया है और पूजक दल से वहाँ के फूल चुनवाकर, सहज ही, अनकहे को 'सजल' शब्द के द्वारा कह दिया है। पूजक दल को इसका ज्ञान कहाँ है कि चुने जानेवाले फूल सजल क्यों हैं और वह किसकी व्यथा व्यक्त करते हैं। वह गहन गहे पथ पर गये, थकी चितवन वाले पथिक को नहीं देखते और न उसके आँसुओं से भीगे फूलों का मर्म समझते हैं। प्रकृति भी उस पथिक की परवाह नहीं करता। उसकी बीथी और अमराई कलरव और ध्वनि से गूँज उठती है। प्रकृति, पुरुष और संसार का यह पारस्परिक व्यवहार नितान्त ही कारुणिक और मर्मभेदी सौन्दर्य के द्वारा व्यक्त किया गया है। इसी छवि अंकन को कला कहते हैं, सफल कविता कहते हैं। निराला इस कला में पारंगत थे। इस कला में उनसे होड़ लेनेवाला कोई दूसरा नहीं दिखायी देता।

निराला अपने गीतों में कठिन और परुष भाषा का प्रयोग करते हैं। वह संस्कृत-निष्ठ होती है। कुछ गीत ऐसे भी हैं, जो सहज साधारण भाषा में लिखे हैं। किन्तु ऐसे गीतों की संख्या कम है और वे उस टक्कर के नहीं हैं, जिस टक्कर के वे गीत हैं, जो कठिन और परूष संस्कृत-निष्ठ भाषा में लिखे गये हैं। कठिन भाषा और परुष स्वर के ये गीत खड़ीबोली की महत्तम विशिष्ठ उपलब्धियाँ हैं और इन उपलब्धियों की प्रतिमाओं की शोभा-यात्रा देखते ही बनती है। सत्, शिव और सौन्दर्य एकसाथ एक होकर रची हुई रुचिर रचना में इसप्रकार सज-धजकर रथारूढ़ होते हैं कि उनके रथ को श्रेष्ठ शब्दों के अश्वों को ही खींचना पड़ता है। और उन्हें हाँकता है अर्थ का समर्थ एवम् कुशल सारथी ही।

वह दिन दूर नहीं है, जब ये गीत कालजयी होकर गाँव-नगर में गूँजते मिला करेंगे।

❑

बच्चन : आदमी और कवि

देह के बच्चन, मन के बच्चन–समाज के बच्चन–सभ्यता और संस्कृति के बच्चन–सरकार के बच्चन–जनता के बच्चन–और काव्य के बच्चन, ये सब बच्चन मुझे एक जैसे ही लगे हैं।

देह का बच्चन मध्यम-वर्ग की जमीन में पनपा बच्चन है। उस वर्ग के एक ओर निम्न वर्ग है, दूसरी ओर उच्चवर्ग है। मध्यम वर्ग का प्राणी बीच का प्राणी है, जो दोनों ओर देखता, सुनता, समझता है और वश-भर निम्नवर्ग की तरफ नहीं जाना चाहता। अगर वश चला तो उच्चवर्ग की तरफ जरूर चला जाता है। देह का बच्चन ऐसा ही एक बीच का प्राणी है। उसकी देह न सुर की देह है–न असुर की–न यक्ष की–न किन्नर की। यानी कि वह न देह से दरिद्र रहा है–न महाजन। शायद इसीलिए देही बच्चन का इन्द्रिय-बोध न जड़-भौतिकी रहा है, न सूक्ष्म-दैवी रहा है। शायद इसीलिए देही बच्चन के इन्द्रिय-बोध की कविताएँ न जड़ हो सकीं, न सूक्ष्म; वह हुई साफ, सुथरे पढ़े-लिखे नागरिक की साफ-सुथरी सम्पत्ति–शोभनीय कविताएँ हैं।

मन का बच्चन देह के बच्चन का अभिन्न, अंतरंग–आत्मीय है। बड़ी खूबी है कि दोनों एक-दूसरे के बड़े खैरख्वाह हैं। द्वन्द्व में, संघर्ष में भी एकजुट रहते हैं–रस्साकशी नहीं करते कि एक हारे, दूसरा जीते। जितना जियें दोनों साथ-साथ जियें–न कम, न बेशी। शायद इसीलिए बच्चन की कविताओं में तन और मन की एकता और तन्मयता मिलती है। शायद इसीलिए बच्चन की कविताएँ उतनी ही मन की कविताएँ हैं, जितनी देह की। न देह का हनन है–न मन का। देह का दिया भी उसी लौ से जलता है जिस लौ से मन का दिया जलता है। दोनों एक आँच, एक उजाला देते हैं और दोनों की अभिव्यक्ति बच्चन की कविता है।

समाज का बच्चन अच्छा पड़ोसी, हमदर्द साथी, मर्यादित कुटुम्बी है। समाज ने उसे बहुत-कुछ दिया है। समाज से उसने बहुत-कुछ लिया है। वह समाज में जिया है, समाज उसमें जिया है। समाज ने उसे गढ़ा, बनाया, तोड़ा, सँवारा और समृद्ध किया है। उसने समाज के मन को गढ़ा, बनाया, तोड़ा, सँवारा, और समृद्ध किया है। समाज ने उसपर चोट की। उसने उसपर चोट की। लेकिन ऐसा नहीं हुआ कि समाज का बच्चन समाज-विमुख हुआ हो। समाज स्वयं में बुरा नहीं है। समाज में जीना जरूरी है कि आदमी आदमी रहे। समाज से भागकर समाज की बुराई से बचना, यह आदमियत नहीं–महा मूर्खता है। शायद इसीलिए बच्चन–सामाजिक बच्चन–समाज में रहना पसन्द

कर सका, उसके और अपने अधिकार और कर्त्तव्य में ताल-मेल बैठा सका और समाज के इन्द्रियबोध को और अपने इन्द्रियबोध को, विवेक से एक करके, काव्य की पंक्तियों में ग्रहणशील बना सका। तभी वह न अराजक था, न है, न रहेगा। तभी आज की सामाजिक अराजकता में भी बच्चन अराजक नहीं है और न समाज में अराजकता चाहता है। अराजकता नकारात्मक होती है। विध्वंसशील होती है। अराजकता की स्थिति स्वीकार कर लेने के बाद कोई भी व्यक्ति काव्य की सृष्टि नहीं कर सकता। बच्चन यह खूब जानता है। यही वजह है कि बच्चन इस समय भी रचना-पर-रचना करता चला जाता है, जैसे उसे कोई बात या घटना कुंठित ही नहीं करती। यह धमाचौकड़ी का माहौल बहुतों को बेतरह पस्त कर चुका है। पर वाह रे बच्चन कि पस्त होना ही नहीं जानता।

सभ्यता और संस्कृति का बच्चन उतना ही दमदार है, जितना दमदार देह का बच्चन, मन का बच्चन, और समाज का बच्चन। बच्चन का जीवन सभ्यता का जीवन है। असभ्यता उसे छू तक नहीं गयी। सभ्यता ने उसे विवेक और बुद्धि दी है। संस्कृति ने उसे मानवीय गरिमा प्रदान की है। शायद इसीलिए बच्चन की कविता सभ्य और संस्कृत है और उसका विकास और इतिहास देश की सभ्यता और संस्कृति के विकास और इतिहास से सम्बद्ध और सम्पृक्त है। तभी उसकी कविता एक स्वस्थ अभिरुचि की कविता है। न वह क्रुद्ध पीढ़ी की कविता है, न वह मृत्योन्मुखी कविता है। बच्चन की कविता सभ्य नागरिक की संवेदनशील कविता है।

सरकार का बच्चन बिका बच्चन नहीं है। वह सरकार का वेतनभोगी रहा है—जरूर रहा है। मगर वैसे नहीं रहा है, जैसे और रहते हैं कि जिसकी खाये उसकी बजाये और बिककर बेजान हो जाये। नहीं—कदापि नहीं। बच्चन सरकार का होकर भी सरकार का पिट्ठू नहीं रहा। न उसने सरकार की बेसुरी बाँसुरी बजायी, न उसका खोखला ढोल बजाया, न उसने मान-सम्मान पाने के लिए सरकार के आगे घुटने टेके। स्वाभिमान के साथ और अपनी स्वाधीनता के साथ, बच्चन ने अपना धर्म निबाहा और सरकार का धर्म निबाहा। यहाँ भी दोतरफा निर्वाह करके बच्चन ने कमाल दिखाया। शायद इसीलिए बच्चन की कविता सरकारी प्रशस्ति की कविता नहीं है। शायद इसीलिए बच्चन की कविता सरकारी योजनाओं की कविता नहीं है। बच्चन की कविता में देश का समझदार आदमी बोलता है, सरकार का आदमी नहीं। बहरहाल आजकल तो सरकार और जनता में भेद-विभेद है ही। दोनों अच्छी भी हैं और बुरी भी। बच्चन दोनों की अच्छाइयों को देखकर प्रेरित होता है और दोनों की बुराइयों को देखकर क्षुब्ध होता है। यहाँ भी संतुलित दृष्टिकोण ही काम करता है और बच्चन विभ्रम में कभी किसी क्षण नहीं पड़ता।

जनता का बच्चन जनता के साथ साँस लेकर उसके साथ जीता है। जनता के मनोबल का इतिहास उसके मनोबल का इतिहास है। जनता की भावना का ग्राफ उसकी भावना का ग्राफ है। जनता के विचार उसके विचार हैं। उसकी कविता में वह बोलता है

और उसके बोल से भारत की जनता का दिल बोलता है। बंगाल में अकाल पड़ा। बच्चन की कविता ने उसे वाणी दी। वैसे भी, आज भी, बच्चन देश की जनता के पक्ष का प्रबल समर्थक है और उसकी बात कहने में नहीं चूकता। बच्चन है, इसीलिए जनता के भाव और विचार की सहज-सरल स्फुरणशील कविता हिन्दी में है।

काव्य का बच्चन पहले आदमी है और फिर कवि। तभी बच्चन का कवित्व आदमियत को अपनाये रहता है और आदमियत में रहकर ही आदमियत की कविता करता रहता है। इसीलिए, शायद इसीलिए बच्चन की कविता में न शब्दों का खेलवाड़ मिलता है, न पांडित्यपूर्ण प्रदर्शन, न गहन-गुरु-गम्भीर निनाद, न चमत्कार, न चीत्कार, न अलंकार, न व्यर्थ का वाक्व्य-विचार, न आत्म-दोहन, न दुराग्रह।

मैं ऐसे बच्चन को—अपने बड़े भाई को—हिन्दी के समझदार कवि को, साठ साल पूरा करने पर हार्दिक बधाई देता हूँ और अभी और इतने ही वर्ष तक इनके जीने की कामना करता हूँ। मुझे निकट से भी बच्चन वही लगे-जो दूर से लगे। मैं कोई फर्क नहीं पाता।

❑

वाल्ट ह्विटमैन और यथार्थवाद

इस कवि का पहला संग्रह—Leaves of Grass चौथी जुलाई, सन् 1855 ई० को प्रकाशित हुआ था। इसके आवरण पृष्ठ पर न तो कवि का नाम था, न प्रकाशक का।

इस संग्रह की कविताएँ पढ़कर कुछ अलोचकों ने उनकी सराहना की और कुछ ने उनकी बुराई की। एक आलोचक ने तो यहाँतक कह डाला कि इस कवि को कला का रत्ती भर भी ज्ञान नहीं है। अवश्य ही इमर्सन महोदय ने उनकी पर्याप्त प्रशंसा की।

संगृहीत कविताओं में नयी जमीन तोड़ी गयी थी। न भाषा में बनाव-शृंगार था; न शैली में कलात्मक परिष्कार था। सब-की-सब सहज साधारण स्वभाव की थीं।

इस कवि के युग में कविता किन्हीं विशेष लक्षणों से संयुत हो, तभी कविता समझी जाती थी। जीवन से और याथार्थ से परिपूरित रचनाएँ कविता नहीं मानी जाती थीं। तब कविता में जीवन और यथार्थ से दूर का काल्पनिक सौन्दर्य व्यक्त किया जाता था। मानसिक भाव-धरातल गोचर धरातल से अछूता रहकर ही शब्दों में अंकित होता था। काव्य का अपना अस्तित्व ही अलग होता था।

इस कवि ने कविता को उसके संकुचित घेरे से बाहर निकाला। इसने कविता को जीवन और यथार्थ के धरातल पर ला उतारा। इसने काल्पनिक सौन्दर्य का परित्याग किया। इसने वह सौन्दर्य अपनाया, जो जीवन से जन्मा था और जो जीवन और प्रकृति का सहचारी था। इसने क्षण को—वर्तमान के कण-कण को—पकड़ा। आदमियों को इसने न देवता बनाया, न दानव। आदमियों को इसने आदमी ही रक्खा। यह कवि अपने जीवन-काल में वह मान-सम्मान नहीं पा सका, जो इसको मिलना चाहिए था। फिर भी ऐसी उपेक्षा के वातावरण में वह निरन्तर सत्तर वर्ष की आयु से भी अधिक काल तक ऐसी ही कविताएँ लिखता रहा।

निरन्तर इसके ऐसा लिखते रहने का एकमात्र कारण यह था कि इसकी कविताएँ इसके अपने जीवन से, देशवासियों के जीवन से, अपने देश से और वहाँ के दृश्यों से जन्मी थीं और विकसित हुई थीं।

अनेक कवि युद्ध पर कविताएँ लिखते थे। ह्विटमैन ने इस परम्परा से कटकर कविताएँ लिखीं। मानव-जीवन भी तो युद्ध के ही समान है। अतः इसने मनुष्य के जीवन को अपनाया। इसमें भी तो हार-जीत होती है। इसमें भी तो सुख-दुःख की अनुभूतियाँ एक-से-एक तीव्र होती हैं। इसमें भी तो शोक-संताप होता है। इसमें भी तो

क्षण-प्रतिक्षण संघर्ष करना पड़ता है। इसमें भी तो अपने-अपने अधिकारों की लड़ाई लड़नी पड़ती है। इसमें भी तो आत्म-रक्षा करनी पड़ती है। वार और प्रहार सब तरह से करने पड़ते हैं। इसमें भी तो आनेवाले दिनों को सुन्दर बनाने के लिए जी-जान से परिश्रम करना पड़ता है। यहाँ भी तो हरेक व्यक्ति सैनिक होता है। इसी विचार को इस कवि ने अपनी कविता–As I Ponder'd—में बड़े गर्व के साथ प्रकट किया है। इसकी कविताओं का स्रोत यही विचार था।

इसने अपनी कविता–To A Historian—में इतिहासकार को ललकारते हुए झकझोरा है और उससे यह कहा है कि वह तो बाह्य को, जातियों के ऊपरी स्तर को, और व्यक्त हुए जीवन को खोजता है। वह मनुष्य को राजनीति का प्राणी मानता है। वह मनुष्य को समूह के रूप में देखता है। वह मनुष्य को शासकों और धर्माधिकारियों की श्रेणी में रखता है। लेकिन यह स्वयं मनुष्य को मनुष्य के रूप में अधिकारों से संयुक्त देखता है। यह मनुष्य का गौरव इस बात में पाता है कि मनुष्य अव्यक्त पड़ी दिशा की ओर निरंतर अग्रसर हो रहा है। यह अपने-आपको मनुष्य के व्यक्तित्व का गायक और उसके भविष्य के इतिहास का दिखलाने वाला कहता है।

तभी तो यह कवि अमरीका के कामकाजी लोगों को गाते हुए काम करते देखकर कह उठता है–I hear America singing! इस कविता में इसने काम में लगे हुए मेकैनिकों, पटरों और शहतीरों को नापते हुए बढ़इयों, काम पर जाते हुए और काम खतम कर लौटते हुए इमारत बनानेवाले राजगीरों, नाविकों, जूते बनानेवाले मोचियों, लकड़ी काटनेवाले मेहनतकशों, हलवाहों, काम में लगी माताओं और नवबधुओं, कपड़े सीती हुई और धोतियाँ धोती हुई लड़कियों, और युवा, तगड़े और मितस्वभाव वाले व्यक्तियों के गीतों का उल्लेख किया है।

अपनी एक दूसरी कविता–Song of Myself में इसने एक स्थल पर यह कहा है कि वह घर के बाहर रहकर बढ़ने का प्रेमी है। घर के बाहर उसे वे लोग मिलते हैं, जो पशुओं के बीच रहते हैं, जो समुद्र की क्रीड़ाएँ देखते हैं और मुग्ध होते हैं, और जो वनों में भ्रमण भी करते हैं। वह ऐसे लोगों के बीच, उन्हीं की तरह खा-पीकर और उन्हीं की तरह सोकर, सारा जीवन बिता सकता है। इसके यह कहने में उस स्वभाव का परिचय अवश्य है, जो इसे अपने देशवासियों में ही कविता खोजते रहने की प्रबल प्रेरणा देता है। इसे अपने देश के निवासियों से अत्यधिक प्यार है। इसी कविता में एक दूसरे स्थल पर वह कहता है कि वह स्वयं ही हरेक रंग और जाति का, और हरेक ओहदे और धर्म का व्यक्ति है। यह किसान है; मेकैनिक है; कलाकार है; यह पुरुष है; नाविक है; रसोइया है; बंदी है; बहुरूपिया है; गुंडा है; वकील है; डाक्टर है; और पुजारी है। इसके इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि वह कवि होकर भी अनेक है और इसकी अपनी कोई सत्ता नहीं है। D.H. Lawrence ने इस कथन की बड़ी खिल्ली उड़ायी है। लेकिन लारेंस का मूल्यांकन सर्वथा अन्यायपूर्ण है। कवि के इस कथन का एक ही न्यायसंगत अर्थ होता है और वह यह है कि यह कवि इन सब लोगों के प्रति

समान ममत्व का भाव रखता है और इनके प्रति आत्मीय सहानुभूति प्रदर्शित करता है। इसका यह भी अर्थ होता है कि इस कवि को किसी से द्वेष नहीं है।

अन्य देशों के लोगों के प्रति भी इस कवि के वही भाव हैं, जो अपने देश के लोगों के प्रति हैं। इसकी दृष्टि में लोग चाहे जिस देश, जाति, अथवा धर्म या व्यवसाय के हों, एक समान हैं। इसे यह देखकर खुशी होती है कि दूसरे देशों के लोग भी नाच-गा रहे हैं; मौज मनाते हैं; काम-काज करते हैं; पढ़ते-लिखते हैं; कथा-पुराण बाँचते हैं; शिक्षा देते हैं; लड़ते हैं; और हजारों वर्षों से जीते-जागते हुए उन्नति करते हैं। इसने अपनी कविता–Salut au Monde—के तीसरे स्टैंजा में इसी विचार को व्यक्त किया है।

यह व्यक्ति और व्यक्तित्व का विशद बखान करता है। ऐसा बखान यह इसलिए करता है कि व्यक्ति और व्यक्तित्व की महत्ता अवश्यमेव स्वीकृत हो और किसी भी युग में किसी भी प्रकार से कोई भी उसकी उपेक्षा न करे। किन्तु यह न अर्द्धचेतन अनुभूतियों का कवि है, न अचेतन अनुभूतियों और स्वप्नों का कवि है। यह स्वीकार करना होगा कि व्यक्ति का बखान उसकी अन्तःचेतना का बखान ही नहीं है और न व्यक्तित्व का बखान उसकी एकान्तिक विकृतियों का बखान है। न निष्क्रिय व्यक्ति की नग्न इकाई ही काव्य की विषय-वस्तु है, न अनुत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्तित्व की भग्न सत्ता ही काव्य की सामग्री है। काव्य में आनेवाला व्यक्ति विवेकशील प्राणी होता है। यह सामाजिक अनुभूतियों से उद्वेलित होता है और उन्हीं को अपनाकर दूसरों से समता का व्यवहार करता है। इसी प्रकार काव्य में चित्रित होनेवाला व्यक्तित्व सामाजिक अनुभूतियों से परिचालित होता है और उन्हीं को अपनाकर दूसरों के साथ उत्तीर्ण और अनुत्तीर्ण होता है। हिन्दी के प्रयोगवादी कवि व्यक्ति और व्यक्तित्व का निर्जीव निरूपण करते हैं। तभी तो उनकी कविताओं में मानवता की झलक तक नहीं आ पाती और वे अबोध, अगम्य, और कुरूप होकर रह जाती हैं। 'नयी कविता' वाले दूसरी दिशा की ओर बढ़ रहे हैं। वाल्ट ह्विटमैन का कथन है कि जैसी दुनिया है और जैसे स्त्री-पुरुष हैं, उन्हें वैसे ही सहजभाव से अपनाना चाहिए।

इस कवि की व्यक्ति सम्बन्धी भावना कल्पनाप्रसूत नहीं है। वह जीवनजन्य है। इस कवि ने अपने युग में व्यक्ति की और उसके व्यक्तित्व की पूरी उपेक्षा देखी है। यह स्वयं भी समाज में टकराता, चूर होता फिरता है। वह कई देशों में रहा है। इसका मुख्य पेशा पत्रकारिता था। शासन की बागडोर थामने वालों को इसने घोर अनैतिकता और अनाचार करते देखा था। इसने इनकी भरपूर भर्त्सना भी की। इसने चुटीली टिप्पियाँ लिखीं। इसे मानव का मानव द्वारा अपहरण असहनीय था। अपने देशवासियों को इसने अपने प्रेसीडेंट से अधिक आदरणीय माना था। अपने एक लेख में उसने कहा भी है कि प्रेसीडेंट का कर्तव्य है कि पहले वह, हैट उतारकर जनता का अभिवादन करे और तब जनता, अपना हैट उतारकर उसका अभिवादन करे। इससे ज्ञात होता है कि यह कवि कामकाजी साधारणजनों के स्वाभिमान का कट्टर समर्थक और उसका संरक्षक भी था।

अपने प्रथम काव्य-संकलन की भूमिका में इस कवि ने स्पष्ट शब्दों में यह कहा था कि अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में यूनाइटेड स्टेट्स की प्रतिमा सदैव वहाँ के जन-साधारण में व्यक्त होती है। वह न तो दफ्तरों में व्यक्त होती है, न धारा-सभाओं में, न ग्रन्थ में, न शिक्षा-संस्थाओं में, न गिरजाघरों में, न समाचार-पत्रों में, न आविष्कारों में। यह एक ऐसा कथन है, जो आज भी अक्षरश: सत्य है।

पुरुष और स्त्री के विषय में इसने एक स्थल पर कहा है कि वे न तो स्वप्न हैं, न बिन्दु। वे आस्थावान, विश्वासी और आशावान हैं। अनपढ़ लोगों में एक प्रकार की ऐसी अवर्णनीय ताजगी और अचेतनता होती है, जो श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ प्रतिभा की शक्ति को विनीत बना देती है और व्यंग्य से पराभूत कर देती है। इसने यह भी कहा है कि मनुष्य का हृदय जैसा इसके समय में खोखला हो गया था, वैसा पहले कभी खोखला नहीं हुआ था। चारों ओर मिथ्या, छल-कपट और दम्भ का वातावरण था। मनुष्य इसी वातावरण में जीता था। न आदमी औरत का विश्वास करता था, न औरत आदमी का विश्वास करती थी। व्यापारी वर्ग तो इस हद तक गिर चुका था कि कुछ कहते न बनता था। न्याय-विभाग के सिवा सरकार के सभी विभाग अत्यधिक भ्रष्ट हो चुके थे। सर्वत्र असत्य, दुर्गुण, और अनाचार का व्यापक प्रसार था।

अमरीकी लोकशाही के बारे में इस कवि का मत है कि वह चाहे जितने दुर्गुणों से भरी हो, फिर भी एक शिक्षालय की तरह प्रथम श्रेणी के व्यक्तियों के निर्माण में लगी है। लोकशाही तो जीवन के 'जिमनैजियम' के समान है, जहाँ अच्छाई और बुराई दोनों हैं। साथ ही इसका यह भी कहना है कि मानव-आत्मा की उत्तरोत्तर उन्नति के लिए लोकशाही स्वयमेव अशक्त है। मानव-आत्मा की उन्नति का काम केवल साहित्य के माध्यम से हो सकता है। महान् साहित्य सबमें सीझ जाता है; सबको रंग-रूप देता है; सूक्ष्म तरीकों से निर्माण का कार्य करता है; आशा देता है; बल देता है; और स्वेच्छा से विनाश का काम भी करता है। अत: वह ऐसे नये साहित्य के सृजन की माँग करता है, जो जीवन से भरपूर हो। ऐसा साहित्य तभी आधुनिक हो सकता है, जब वह विज्ञान के अनुरूप हो। इसके अतिरिक्त वह दूसरे देशों के साहित्य की नकल भी न हो। वह ऐसा न हो कि केवल आस्वाद के लिए लिखा गया हो। यदि वह मजे से समय व्यतीत करने के उद्देश्य से लिखा गया है और इसलिए लिखा गया है कि वह कोई विशेष लय अथवा सौन्दर्य का निरूपण करे, तो भी वह नया साहित्य किसी काम का नहीं है।

अमरीका में तब एक अपना राष्ट्रीय साहित्य नहीं था। वहाँ के लोग विदेशी कवियों की रचनाएँ पढ़ते थे और उन्हीं से प्रेरणा पाते थे। सबसे पहले इसी कवि ने राष्ट्रीय साहित्य के लिखे जाने पर जोर दिया। यह स्वयं इस काम के करने में तत्पर हुआ। इसकी कविताएँ यूनाइटेड स्टेट्स की मौलिक राष्ट्रीय कविताएँ मानी जाती हैं।

यदि कवि वास्तव में अपने देश का 'आदि विद्रोही' कवि है। इसने अपने देश के काव्य में आमूल परिवर्तन किये हैं। दूसरे देशों के काव्य में भी इसका महत्त्वपूर्ण प्रभाव

पड़ा है। अन्य देशों के कवियों ने भी इसके दिखाये हुए मार्ग का अनुसरण किया है। वहाँ भी इसके काव्य-संग्रह के अच्छे-से-अच्छे, सस्ते-से-सस्ते संस्करण प्रकाशित हुए हैं। वहाँ इसकी इज्जत बढ़ी है और जयन्तियाँ मनायी गयी हैं।

इसे जितना प्रेम मनुष्यों से था, उतना ही प्रेम प्रकृति से भी था। प्रकृति को इसने उसके जिस-जिस रूप में देखा, उसके उस-उस रूप को अपनी कविता में नये तरीके से सहज-सरल स्वभाव से व्यक्त किया है। प्रकृति उतनी ही सजीव है, संवेदनशील है, जितना मनुष्य। वह भी काल के अक्षय सौन्दर्य को और उसके प्रवाह को उसी प्रकार व्यक्त करती है, जिस प्रकार मनुष्य। वह रूप बदलती है—रंग बदलती है—हर्षित होती है—और हुलसती है। वह भी प्रेम के स्पन्दनों से पुलकित होती है और दूसरों को पुलकाती है। किन्तु उसके स्पन्दन और मानव के स्पन्दन भिन्न नहीं होते, वरन् एक से ही होते हैं। वह उद्दीपन और संदीपन की पृष्ठभूमि नहीं है। कवि के लिए आवश्यक है कि वह उसका निरूपण भी उसी भावावेश और तन्मयता के साथ करे, जिसके साथ वह मनुष्य का निरूपण करता है। प्रकृति पर लिखी हुई इसकी कविताएँ इस कथन की पुष्टि करती हैं।

अपनी कविता—Song of Myself—मैं इसने बड़े ममत्व के साथ लिखा है—

मैं वह हूँ जो मृदु गहराती हुई निशा के साथ भ्रमण करता है,
मैं पुकारता हूँ वसुधा को और सिन्धु को—
जो अधजकड़े पड़े हुए हैं नेश पाश में॥

×× ×× ××

दक्षिण पवन-प्रसेवित रजनी—
मणिमालाओं से आभूषित मोहक रजनी।
अब तक इंगित करती रजनी—
उन्मद, नग्न, ग्रीष्म की रजनी॥
निरावरण उर से तू अपने मुझे लगा ले;
अधिक निकट से अधिक निकट कर—
सम्मोहक परिपालक रजनी!
आलिंगन-आबद्ध मुझे कर॥

यह गरमी की जगमगाती रात का चित्रण है। इसमें कवि ने अपने मानव-हृदय का निश्चल प्रेम उड़ेल दिया है। शायद ही किसी दूसरे कवि ने रात पर इसप्रकार की रचना की हो।

इसी कविता में इसने वसुधा का वर्णन भी किया है। वह वसुधा शीतप्रश्वासी है, युवती है और विषयातुर है। उसके पेड़ सोये हैं। फिर भी पेड़ों की हरियाली तरल होकर बह रही है। सिंदूरी सूर्यास्त नहीं रह गया है। उसके गिरि-शिखरों पर कोहरा

छाया है। उसपर पूर्णिमा का चन्द्रमा चाँदनी बरसाता है, जो आकाश के नीले रंग से मिलकर एक अद्‌भुत सौन्दर्य की सृष्टि करती है। यही नहीं, उसकी नदियाँ भी सौन्दर्य और छायाओं से रंग-रूप बदलती रहती हैं। वर्षा के बादल उसके ऊपर घुमड़ते हैं। वह, दूर-दूर तक, पक्षियों के पंखों पर उड़कर झपट्टा मारती है। वह फल-फूलों से भारान्वित होती है और मन मोहती है। इस अंश का हिन्दी रूपान्तर इस प्रकार है :–

शीत-प्रश्वासी ओ विषयातुर युवती वसुधा!
निद्रित विटपों-तरलायित तरुओं की वसुधा!
सिंदूरी सूर्यास्त-पृथक-कृत विह्वल वसुधा!
कूहाच्छन्न मेरु की चोटी वाली वसुधा!
स्वच्छ तोय, धूसर जलदों को मेरे लिए रुचिरतर–
और विमलतर करने वाली वसुधा॥
दूर दूर तक गरुड़-पंख पर उड़ने वाली
और झपटने वाली वसुधा॥
अब कर टेके बैठी वसुधा!
सेव-सुमन से फूली, श्री-सम्पन्न हुई ओ वसुधा!
अब तेरा प्रेमी आता है, मंद मधुर मुसका तू!!

इसे जैसे पृथ्वी से प्यार था, वैसे ही समुद्र से भी प्यार था। जल-राशि के वर्णन में भी वह आत्मीयता को उड़ेल देता है। यह कहता है :–

मैं तुझ पर भी न्यौछावर होता हूँ सागर;
खूब समझता हूँ मैं तुझको
मुझे बुलाता है तू तट से
वक्र उंगलियाँ उठा-उठाकर॥
और हटेगा नहीं बिना ले चले मुझे तू;
तेरी इच्छा है कि आज हम लिपटें दोनों,
अच्छा तो मैं वस्त्र उतारूँ,
और दूर ले चल तू,
जहाँ न यह धरती हो गोचर,
मुझे गुदगुदे आसन पर बैठाना,
लहरों के झूले पर मुझको खूब झुलाना–
जिससे मेरी आँखों में निंदिया बौराये।

खिले हुए सफेद गुलाबों को सूँघने और उनके चूमने में इसे कविता मिलती थी। धारीदार चमकते तरबूजों को छूने में इसे कविता मिलती थी। यह लिखता है :–

मधुर महकते, उगते, श्वेत गुलाबों को मैं सूँघ रहा हूँ।
और पत्तियों वाले उनके प्रिय ओठों को चूम रहा हूँ,
मैं तरबूजों की चमकीली गोलाई को टोह रहा हूँ!

सर्दी के समाप्त होने पर, बर्फ के पिघलने के बाद 'डेंडेलियन' फूलता है। इसकी शोभा देखते ही बनती है।

शीत के पलायन पर
ऐसा वह स्वच्छ, सरल, सुघर हुआ,
जैसे वह फैशन, व्यवसाय,
राजनीति के उपाय से नहीं हुआ;
अपने ही ताप-तपे शस्य-श्याम कोने से,
निर्विकार, निष्कलंक, हेम वर्ण ऊषा-सा,
फूला हुआ पहला फूल अबकी वसन्त का,
मुखड़ा दिखलाता है अपना डैंडेलियन।

Song of the Broad Axe का प्रथम स्टैंजा भी बहुत ही अच्छा है। कुठार का ऐसा वर्णन साहित्य में कहीं अन्यत्र सुलभ नहीं है।

सुघर कुठार, विवर्ण दिगम्बर,
शीश तुम्हारा भूमि-गर्भ से बाहर निकला,
माँस तुम्हारा काठ-अस्थि है लोहा,
अंग तुम्हारा एक-ओठ भी एक अकेला,
फलक तुम्हारा अरुण आग के
उगे पात-सा भूरा-नीला,
घिरे घास से—पड़े घास पर—
झुके-झुकाये तुम करते विश्राम!

इस कवि की कविताओं में जल, थल, नभ और वायु का पूर्ण विस्तार है। एक ऐसा प्रसार है—प्रवाह है इसकी पंक्तियों में जैसा प्रकृति में है—जीवन में है। इसकी पंक्तियाँ महासागर की अनन्त लहरों के समान तट की ओर दौड़ती हैं और तट को छापकर, नहलाकर, रिझाकर, एक याद भरकर चली जाती हैं। छंदों की सीमाओं में इसकी कविताएँ नहीं बँधीं। भावोद्रेक और भाषा अपने उन्मुक्त आवेश के नैसर्गिक रूप में एक हो गये हैं। न कहीं अलंकरण की रुचि का निर्वाह किया गया है, न कहीं शाब्दिक जादू का कुतूहल उत्पन्न किया गया है। इसके काव्य से मानव-आत्मा का विराट् रूप प्रकट होता है। इसका काव्य युग की प्रशस्ति का प्रलम्ब गान है। इसकी पंक्तियाँ

हिमालय के मानदण्ड की भाँति पूर्व से पश्चिम तक फैली हुई हैं। इसकी रचनाएँ लोकतन का विश्वव्यापी जागरण प्रस्तुत करती हैं। इसका प्रत्येक शब्द रक्त का संचार करता है। वस्तुओं की प्रशस्ति में इसके विचार मंत्र की तरह निकलते हैं। न कहीं ओछापन है, न कहीं क्षुद्रता। इसकी आत्मा, देश की आत्मा और काव्य की आत्मा में पूर्ण तादात्म्य है।

❑

शासन, जनता और लेखक

शासन और जनता में अत्यंत घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। जनता अराजक अवस्था में नहीं रह सकती। वह शासन की अपेक्षा रखती है। इसलिए वह शासन को स्वीकार करती है। शासन भी अपने आप में अपनी कोई सत्ता और महत्ता नहीं रखता। उसकी अपनी कोई सिद्धि नहीं है, जिसे वह प्राप्त करना चाहे।

यह एक भ्रामक विचार है कि शासन एक बाह्य नियंत्रण है, जिसकी जनता को अपेक्षा है। जनता ऐसा कोई बाह्य नियंत्रण नहीं चाहती है। जनता अपना ही नियंत्रण अपने शासन में चाहती है। जनता और बाह्य शक्ति में कभी भी एका नहीं हो सकता। जनता से बाहर की शक्ति जनता की अपनी शक्ति नहीं होती। इसलिए जनता को किसी बाह्य शक्ति का दबाव कदापि अंगीकार नहीं होता। जनता की शक्ति जनता के अन्दर से उत्पन्न होती है। जनता जीवन में संघर्ष करती है, नये-पुराने के द्वन्द्व से आगे बढ़ने का बल प्राप्त करती है; समस्त प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियों को परास्त करती है; और जनवादी रचनात्मक कार्य में अग्रसर होकर वर्गहीन समाज की व्यवस्था करती है।

देश में शांति और सुरक्षा के नाम पर भी बहुधा बाह्य नियंत्रण न्यायसंगत माना जाता है। पूँजीवादी शासन तथा साम्राज्यवादी शासन, शांति और सुरक्षा का ढोल पीटकर देश की जनता की प्रगतिशील शक्तियों पर आक्रमण करते हैं। ऐसे शासन जन-जीवन के सभी नेताओं को जेल में बंद कर देते हैं; जन अभिरुचि की सभी पुस्तकों को अवैध घोषित कर देते हैं; जनता के महाशक्तिशाली समाचार-पत्रों को छपने नहीं देते; और कटु कानूनी अस्त्रों से जन-सभाओं की हत्या करते हैं। अपनी सरकार ने भी देश के सभी जनवादी अखबारों पर रोक लगा दी थी। बम्बई से निकलने वाले 'जनयुग', 'करेंट अफेयर्स' और कई पत्रों पर प्रतिबंध लागू कर दिया गया था और उनका प्रकाशन रोक दिया गया था। यही नहीं ''भारतीय जन-नाट्य-संघ'' के प्रदर्शनों को होने नहीं दिया गया था। नागर जी, मूढ़ जी, साहबसिंह मेहरा तथा अली सरदार जाफरी जैसे जन-प्रिय कवियों को जेल में ठूँस दिया गया था। नागार्जुन और पहाड़ी जैसे साहित्यकारों पर ''क्रिमिनल लॉ अमेंडमेंट'' के अन्तर्गत इलाहाबाद में मुकदमें चालू कर दिये गये थे। ''हंस'' जैसे प्रगतिशील पत्र पर संयुक्त प्रान्तीय सरकार ने न छपने का रोकनामा चिपका दिया था। इसी प्रकार बंगाल, बिहार, मध्यप्रदेश और अन्य प्रान्तों के शासनों ने भी दण्ड और दमन का अस्त्र चलाया था।

सच बात तो यह है कि जनता कभी अशान्ति नहीं चाहती। वह अशांति के लिए अशांति नहीं करती। यह भी उतना ही सच है कि वह विद्रोह के लिए विद्रोह नहीं

चाहती। वह विद्रोह के लिए विद्रोह नहीं करती। यह भी उतना ही सच है कि जनता एक पागल हिंस्र पशु नहीं है, जिसको लोहे के पिंजड़े में जंजीरों से जकड़ कर भूखा-प्यासा रखा जाये।

जनता अशांति करती है शांति पाने के लिए; विद्रोह करती है सुव्यवस्था लाने के लिए; और आक्रमण करती है अत्याचार को परास्त करने के लिए। आजतक किसी देश की जनता का उद्देश्य अशांति के लिए अशांति लाना, विद्रोह के लिए विद्रोह करना, और आक्रमण करने के लिए आक्रमण करना नहीं रहा।

अतएव यदि शासन और जनता में तादात्म्य रहे, शासन जनता की रुचि का रहे और जनता के हित का ध्यान रक्खे, तो कोई कारण नहीं है कि तब दोनों में कोई पारस्परिक विरोध पैदा हो अथवा द्वंद्व उत्पन्न हो। इतिहास इसका साक्षी है कि जनता की परवाह न करने पर, जनता को पदाक्रान्त करने पर, उसका रक्त पीने पर, उसको पेरकर उसके तेल से सिरफिरों की मस्तक पीड़ा का इलाज करने पर, राजभवनों में खूनी दिये जलाकर दिवाली का उत्सव मनाने पर और कंचन-कामनी की पूजा करने पर शासन और जनता में द्वन्द्व हुआ है। पेरिस कम्यून इसी की नतीजा था। रूस की जन-क्रांति इसी का परिणाम थी।

जनता का यह आक्रमण पहले लघु प्रयास के रूप में प्रकट होता है। यह लघु प्रयास पहले असम्बद्ध, अव्यवस्थित, छिन्न-भिन्न और क्षणिक भावावेश के रूप में होता है। इस लघु प्रयास का कोई आधारभूत सिद्धान्त नहीं होता। बाद में यही लघु प्रयास जब सम्बद्ध, व्यवस्थित और सर्वव्यापी होकर एक दृढ़ सूत्र से संचालित होता है, तब महान् जन-क्रांति का आकार ग्रहण कर लेता है। ऐसी जन-क्रांतियों से ही देशव्यापी आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तन सम्भव होते हैं और संकुचित जन-विरोधी शासन का सर्वनाश होता है। जबतक लघु प्रयास जन-क्रांति का रूप नहीं पा लेता, तब-तक वह शासन से अपनी रक्षा करने में असमर्थ रहता है। शासन के काले कानून उसको कुचल देते हैं। शासन की फौजें उसको भुनगे-सा मसल देती हैं। शासन की पुलिस उसकी जान निकाल लेती है। जारशाही शासन के खिलाफ पहले ऐसे ही अनेकानेक लघुप्रयास हुए थे और असफल रहे थे। परन्तु अंत में, लेनिन जैसे कर्मठ नेता की अगुवाई पाकर, रूस की जनता ने जारशाही शासन के विरुद्ध एक सफल जन-क्रांति की। अब वहाँ श्रमजीवी जनता का शासन पर अटल आधिपत्य है।

शासन और जनता में द्वन्द्व होने का मूलकारण समाज का वर्ग-भेद है। शासनाधिकारियों का चुनाव वर्ग-भेद के आधार पर होता है। सम्पत्तिवाले, पूँजी वाले और विशेष शिक्षावाले लोग ही अपने विशेषाधिकारों के फलस्वरूप जनता का मत प्राप्त करते हैं, धारा सभाओं में पहुँचकर अपने विशेषाधिकारों को जीवित रखने के प्रयास में जन-विरोधी नियम-कानून की सृष्टि में सहयोग देते हुए कृतकृत्य होते हैं। इसलिए विशेषाधिकारों वाले व्यक्तियों द्वारा वर्ग-भेद के मिटाने की कल्पना करना निरर्थक है। इनका स्वार्थ और हित इसी में रहता है कि एक लम्बे अर्से तक यह वर्ग-भेद बना रहे

और वर्तमान समाज में आमूल परिवर्तन कदापि न हो। अपनी सरकार ने जमींदारी का उन्मूलन किया है, लेकिन वर्ग-भेद के आधार पर जमींदारों को मुआवजा देकर। अपनी सरकार ने बड़े-बड़े कारखानों का राष्ट्रीयकरण नहीं किया, केवल वर्ग-भेद बनाये रखने के लिए, ताकि अभी आगे भी खून चूसने वाले शोषक श्रमजीवी को और कमजोर करते रहें और स्वयं अपनी तिजोरियों में अपार धनराशि संगृहीत करते रहें। चोरबाजारी करनेवालों को वर्ग-भेद के आधार पर ही कठोर सजा नहीं दी जाती। अपनी सरकार कहती है कि चोर-बाजार के थैलीशाह सरकार को अपनी आय का हिसाब दिखाकर टैक्स का भुगतान कर दें और कानून के पंजे में फँसने से बच जायें।

जब जनता मुआवजा न देने की पुकार लगाती है, जब जनता राष्ट्रीयकरण करने का नारा देती है और चोरबाजारी वाले धन्नासेठों को जेलों में बंद करने की माँग पेश करती है, तो अपनी सरकार कहती है—जमींदारों, पूँजीपतियों, और धन्नासेठों को इस देश में जीने का और रोटी कमाने का उतना ही अधिकार प्राप्त है, जितना मजदूरों को और अन्य पेशेवालों को। यह वर्ग-भेद नहीं तो और क्या है, जिसे अपनी सरकार कायम रखना चाहती है।

बात यहीं नहीं समाप्त होती। अपनी सरकार तो यहाँ तक कहती है कि उसे अभी पूँजीपतियों के धन की आवश्यकता है, ताकि वह देश में अत्यधिक उत्पादन कर सके। पूँजीपतियों को मेटकर यह काम सम्भव नहीं हो सकता। फिर थैलीशाहों ने भी तो देश की स्वतंत्रता की लड़ाई में एक बहुत बड़ा भाग लिया है। अपनी सरकार उत्पादन के सिद्धान्त को ही नहीं समझती। उसका यह विचार ही गलत है कि पैसे से उत्पादन होता है। उत्पादन करनेवाला तो मजदूर है। पूँजीपति तो उत्पादन से मुनाफा की रकम कमाने वाला है। सरकार वास्तव में भ्रम में है। वह भ्रम में पड़े रहना ही अच्छा समझती है। अतएव वह वर्ग-भेद के सिद्धान्त को एक मिनट के लिए भी नहीं बूझना चाहती।

इसपर भी यदि सरकार को सताया जाता है, तो वह कहती है कि वह मानवतावाद के आधार पर सबको अपने-अपने स्थान पर जिन्दा रखेगी, समता के महान् सिद्धान्त का अक्षरशः पालन करेगी; और उस रामराज्य को अवश्य स्थापित करेगी, जिसमें मजदूर भी सुखी होंगे और पूँजीपति भी सुखी होंगे।

दूसरे शब्दों में, अपनी सरकार स्वीकार करती है कि उसके स्थापित किये हुए रामराज्य में वर्ग-भेद रहेगा।

इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि अपने रामराज्य का शासन वर्ग-भेद पर आधारित होकर वर्ग-भेद का ही शासन होगा। इसका यह भी परिणाम निकलता है कि अपने रामराज्य में शोषण रहेगा, चाहे वह जिस रूप में रहे। इसका यह भी नतीजा निकलता है कि अपने रामराज्य में सब सामान नहीं रहेंगे, जिसके फलस्वरूप जनता को समान उन्नति के अधिकार प्राप्त नहीं होंगे।

ऐसी दशा में अपने शासन का रामराज्य केवल विशेषाधिकारियों का रामराज्य है। जनता का रामराज्य वह नहीं है। ऐसे रामराज्य से जनता के शत्रुओं को सब प्रकार से लाभ है। और जनता को स्वयं सब प्रकार से खतरा है। रामराज्य के सिरमौर भी इसी हेतु जनता के सिरमौर नहीं हैं। इन सिरमौरों से भी इसी हेतु जनता को खतरा है। अपनी आन्तरिक शासन-नीति और अपनी वैदेशिक शासन-नीति दोनों ही इसी खतरे को स्पष्ट करती हैं। गृहनीति के मसले में अपना शासन हर तरह से कमजोर है। वह जनविरोधी मोरचे की अगुआई करता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक को उन्मुक्त विचरने का निस्सीम अधिकार है। उसे कांग्रेस को सदस्यता पा लेने का स्वत्व भी मिल गया है। उसको संस्कृति के नाम पर हिन्दूवाद की साम्प्रदायिकता भरी प्रवृत्तियों को सुसंगठित करने का सरकारी आदेश-सा ही मिल गया है। उस संस्कृति से कोई हित होने की एक पाई भी आशा नहीं हो सकती, क्योंकि वह शुद्ध हिन्दूवाद का प्रचार करेगी और उसका कोई सम्बन्ध देश के आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन से नहीं होगा। दूसरे शब्दों में, हमारी जनता वेदों, पुराणों और उपनिषदों के बताये हुए रास्ते पर ले जायी जायेगी और जनता की आध्यात्मिक उन्नति पर ही जोर दिया जायेगा। इसका सीधा-सीधा अर्थ यह हुआ कि जनता अपने वर्तमान जीवन के अभावों को स्वीकार किये रहे और केवल मात्र आदर्शों का पयपान करती जीती रहे। यह भुलावा है और जनता को काबू में किये रहने का तरीका मात्र है। इस नीति से अपने शासन-कार्य की बहुत बड़ी समस्याओं का अन्त हो जाता है। इसीलिए अपने शासन की गृहनीति इस ओर अग्रसर है। ठीक यही दशा अपनी वैदेशिक नीति की है। वह भी विश्व की जनता की समस्याओं से मुँह मोड़कर किसी पक्ष में न रहने की घोषणा करती है। ऐसी घोषणा बकवास के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इस घोषणा का अर्थ हुआ कि अपना देश विश्व के संघर्ष से दूर रहना चाहता है, विश्व की दुर्गम समस्याओं को हल नहीं करना चाहता, विश्व के वर्तमान ढाँचे को ज्यों-का-त्यों कायम किये रहना चाहता है; अन्य प्रतिक्रियावादी सरकारों को अपने मेल से अत्याचार और शोषण करने की स्वीकृति देता है; और शांति और सुरक्षा के बहाने दमन को प्रोत्साहन देता है। यही नहीं, अपना देश, इसी नीति के कारण, ऐंग्लो-अमरीकी गुट का पिछलगुआ बन गया है, जिसका प्रमाण हमारे रुपये के मूल्य के घटने से मिलता है। एशियाई कान्फरेंस जो इंडोनेशिया के हित में भारत में बुलायी गयी थी, इसी नीति के कारण केवल एक विरोध-प्रदर्शन कान्फ्रेंस बनकर रह गयी थी। कश्मीर की समस्या भी इसी नीति के फलस्वरूप खटाई में पड़ गयी है। यह भी इसी नीति का परिणाम है कि अपने परराष्ट्र-सचिव जी अमेरिका से आज अन्न, मशीन और विशेषज्ञ पाने को लालायित हैं। उन्हें अपने राष्ट्र की शक्ति पर भरोसा नहीं है।

अतएव विवश होकर हमें कहना पड़ता है कि अपना रामराज्य दुर्बलों का राज्य है, भिखमंगों का राज्य है, प्रतिक्रियावादियों का राज्य है, मुरदा संस्कृति का राज्य है और बुरका पहनने वालों का राज्य है। अपना यह रामराज्य बलीनों का राज्य नहीं है, जीवित संस्कृति का राज्य नहीं है, परदाफाश करनेवालों का राज्य नहीं है, और सच्ची शांति और सुरक्षा कायम करनेवालों का जनवादी राज्य कदापि नहीं है।

अतएव विवश होकर हमें यह भी कहना पड़ता है कि अब प्रत्येक देश में दो तम्बू तने हैं। एक को प्रतिक्रियावादी सरकारों ने ताना है; दूसरे को जनवादी ताकतों ने ताना है। शासन और जनता में द्वन्द्व छिड़ गया है। शासन अपनी राह चलता है। जनता अपनी राह चलाती है। शासन की राह में खतरा-ही-खतरा है। जनता की राह में मंगल-ही-मंगल है। शासन की राह में तीसरे महायुद्ध की पूर्ण सम्भावना है, विध्वंस की सम्भावना है, संस्कृति के विनाश की सम्भावना है और ज्ञान-विज्ञान सबके दुरुपयोग की सम्भावना है। जनता की राह में किसी तीसरे महायुद्ध की कोई सम्भावना नहीं है, विध्वंस की कोई सम्भावना नहीं है, संस्कृति के पतन की कोई सम्भावना नहीं है और ज्ञान-विज्ञान के दुरुपयोग की कोई सम्भावना नहीं है। जनता की राह में शांति और रक्षा की पूर्ण सम्भावना है, निर्माण की पूर्ण सम्भावना है। संस्कृति के विकास की पूर्ण सम्भावना है, और ज्ञान-विज्ञान के सदुपयोग की पूर्ण सम्भावना है।

अमरीका प्रतिक्रियावादी सरकारों का अगुआ है और संसार को अपनी राह पर ले चलना चाहता है। वह ऋण देकर, अन्न देकर, मशीन देकर और विशेषज्ञ देकर व्यापार के बहाने शोषित देशों को अपना क्रीतदास बनाने पर उतारू है। उसे रूस की जनवादी सरकार से भय है। इसलिए वह रूस-विरोधी अड्डे बनाकर सुरक्षित रहते हुए कंटकविहीन राज्य करना चाहता है। इसीलिए वह ''अटलांटिक पैक्ट'' की रचना रचे है, जर्मनी के टुकड़े-टुकड़े किये हैं, जापान में फासिस्टी सरकार को बढ़ावा दिये हैं, अपने घर में फौजी अफसरों के हाथ में कल-कारखानों को सौंपे हैं और एटमबम के मसले पर रूस से सहमत नहीं है और दक्षिणी वियतनाम की प्रतिक्रियावादी सरकार को समर्थन देकर उत्तरी वियतनाम पर जुल्म ढाये हैं।

रूस जनवादी सरकारों का अगुआ है और संसार को जनता की राह पर ले जाना चाहता है। वह वर्ग-भेद मिटाने की नीति का प्रचार करता है, पूर्णतया स्वाधीन रहने की नीति का समर्थन करता है, शान्ति और सुरक्षा का दम भरता है और मजलूमों और मजदूरों को अपने-अपने देश में मजदूरों की क्रान्तिकारी सरकारें स्थापित करने का प्रोत्साहन देता है। इसीलिए वह अमरीका-विरोधी मोर्चा बनाता है, चीन की प्रजातंत्री नयी सरकार की सत्ता स्वीकार करता है, ''एटलांटिक पैक्ट'' का पर्दाफाश करता है, जर्मनी के विभाजन की कड़ी आलोचना करता है, जापान की सरकार की भर्त्सना करता है, अपने घर में निर्माण-कुशल जनता के परीक्षित जनवादी नेताओं के हाथ में कल-कारखानों को सौंपता है, एटम बम के विनाश किये जाने पर सुझाव पेश करता है और वियतनाम की लड़ाई से अमरीका के हट जाने की बात करता है।

ऐसी विषम परिस्थिति में जनता का कल्याण अपने पथ पर चलने में है और रूस के दिखाये मार्ग को स्वीकार करने में है। रूस की नीति का अनुसरण करने से तात्पर्य है प्रतिक्रियावादी सरकारों के हाथ कमजोर करना और जनवादी शक्तियों के हाथ मजबूत करना, युद्ध की सम्भावना मिटाना और शांति-सुरक्षा की सम्भावना लाना, वर्ग-भेद के शासन का तहस-नहस करना, वर्गहीन शासन का निर्माण करना, एटमबम की विध्वंसक

योजना को विफल करना, उसकी रचनात्मक शक्ति को सफल करना और शासन और जनता के बीच के द्वन्द्व को मिटाना।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आज शासन और शोषित जनता में तनातनी है—परस्पर मेल नहीं है—शासन जनता पर आरूढ़ होना चाहता है और प्रतिक्रियावादी का पोषण करना चाहता है—जनता शासन पर आरूढ़ होना चाहती है—वर्गहीन समाज की स्थापना करना चाहती है।

ऐसे में हर ईमानदार आदमी का कर्तव्य है कि वह जनता का साथ दे।

कवि, कलाकार, लेखक और साहित्यकार का भी यह कर्तव्य हो जाता है कि जनता का साथ दे। वह प्रतिभासम्पन्न होता है। उसकी लेखनी, तूलिका और छेनी में सामाजिक परिवर्तन करने की विशेष क्षमता होती है। इसीलिए तो उसपर जनता का विशेष अधिकार होता है। इसी विशेष अधिकार के बल पर जनता उसकी शक्तियों का उपयोग, अपने तईं चाहती है, जिसे देने में उसे तनिक भी संकोच नहीं करना चाहिए। शासन का साथ देकर वह अपना पेट भले ही पाल ले, किन्तु उसकी प्रतिभा का कोई सदुपयोग नहीं होगा।

लेकिन सब लोग इस कथन की मान्यता स्वीकार नहीं करते। स्वयं लेखक भी इस कथन का विरोध करते हैं। अमान्यता और विरोध का आधार यह है कि इस कथन को स्वीकार कर लेने से लेखक की सम्पूर्ण स्वतंत्रता का अपहरण हो जाता है और वह जनता के आदेशों का अनुचर और दास हो जाता है। किन्तु बात ऐसी नहीं है। वह जनता के आदेशानुसार चलने पर भी पूर्णतया स्वतंत्र रहता है और जनता पर अपना प्रभुत्व स्थापित करके शासन करता है।

सच पूछा जाय, तो जनता की स्वतंत्रता और लेखक की स्वतंत्रता एक हैं। उनमें कोई भेद नहीं है। लेखक जनता का आदमी है, जनता में रहता है और जनता के लिए लिखता है। अतएव जिस बात में जनता का हित है, उसमें लेखक का हित है; जिस बात में जनता की प्रगति है, उसमें लेखक की प्रगति है; और जिस बात में जनता का विकास है, उसमें लेखक का विकास है। न जनता लेखक से परे है, न लेखक जनता से परे है। दोनों एक ही समाज के प्राणी हैं। दोनों की एक ही समस्याएँ हैं। दोनों का एक ही लक्ष्य है। दोनों का एक ही मार्ग है। दोनों की एक ही दिशा है और दोनों का एक ही भविष्य है।

भूल यह की जाती है कि जनता और लेखक एक-दूसरे से अलग कर दिये जाते हैं। जनता से लेखक का कोई सम्बन्ध नहीं रक्खा जाता। लेखक को जनता से दूर कर दिया जाता है। जनता अपना संघर्ष करने को छोड़ दी जाती है। लेखक को अपनी साहित्य-साधना करने को छोड़ दिया जाता है। जनता पुकारती है। लेखक नहीं सुनता। लेखक लिखता है। जनता नहीं देखती। तात्पर्य यह कि लेखक को जनता की सारी जिम्मेदारियों से मुक्त कर दिया जाता है और उसे आवारा घूमने-लिखने की असीम

स्वतंत्रता दे दी जाती है, जिसका परिणाम यह होता है कि वह गैर जिम्मेदारी का साहित्य सृजन करता है, सामाजिक जीवन के विकास में कोई योग नहीं देता, राष्ट्रीय जीवन का अंग नहीं बनता, और सत्य से और यथार्थ से पराङ्मुख हो जाता है। सारांश यह है कि वह असामाजिक जीवन बिताने लगता है और राजनीति से कोसों दूर हट जाता है।

अमान्यता और विरोध दोनों ही लेखक की ऐसी स्वतंत्रता का दम भरते हैं। वास्तव में यह लेखक की स्वतंत्रता नहीं, उसका हनन है। ऐसी स्वतंत्रता का मूल्य ही क्या जो लेखक को आदमी न रक्खे, लेखक को समाज से बहिष्कृत करे और उसकी आँख में पट्टी बाँधे और उसे सत्य देखने से नितान्त अंधा बनाये रहे।

प्रत्येक देश के साहित्य के इतिहास में लेखक की इस व्यक्तिवादी स्वतन्त्रता के बहुत-बहुत दुष्परिणाम देखने को मिलते हैं। उनसे भी थोड़ा परिचय प्राप्त करना आवश्यक है।

फ्रान्स में जूलियन बेंदा, जे० सार्त, एण्ड्री गाइड, पी० वैलेरी, सिमोनी डी बीन व्यायर, फोस्का, एफकाफ्का, और एम० मान्थरलैण्ट का साहित्य मुरदाघर का साहित्य है, बुझे हुए सूरज का साहित्य है, अपंगु इन्सान का साहित्य है और मूर्छा और मरण का साहित्य है। बेंदा महोदय अपनी पुस्तक ''शुद्ध साहित्य की विजय'' में लिखते हैं कि साहित्य का सार आम तौर से अकर्मण्यता और असत्य है। जे० सार्त साहब बड़े गर्व के साथ सन् 1947 ई० में "Temps Mordernes" में लिखते हैं कि ''हम सारी दुनिया के खिलाफ हैं..... हमारे पाँव-तले कोई जमीन नहीं..... हमारी सद्इच्छा न हमारे काम आती है, न और के..... हम धारा के प्रतिकूल तैर रहे हैं..... इतिहास ने हमें भुला दिया है..... हमारी आवाज निर्जन की आवाज है।'' एण्ड्री गाइड बतलाते हैं कि मनोवाद (Subjectivism) में सत्य निहित है और केवल वही वही यथार्थ है। पी० वैलेरी के कथनानुसार ''यथार्थ कुछ नहीं है, क्योंकि वह आकारहीन है।'' उनसे पूछने पर कि लेखक किसके लिए लिखता है, उनका उत्तर था कि ''मेरी कविताएँ क्रिया के बदले अभ्यास हैं।..... वे मेरे निजी कपट प्रयोग अधिक हैं, जो स्वयं मेरे आदेश की देन हैं, जिन्हें मैंने जनता के लिए नहीं लिखा। ..... नृत्य में, शरीर के अवयवों के आन्दोलन का कोई दृष्टिगोचर उद्देश्य नहीं होता और न कभी कोई सोचता है कि नृत्य जन-हिताय के नियमों के वशवर्ती हैं, बल्कि इसका उल्टा है कि वह कविता सम्बन्धी समझा जाता है। ..... न सरलता, न स्पष्टता कविता के सारपूर्ण तत्त्व हैं, चाहे हमें इस कारण जितने भी पाठकों का परित्याग करना पड़े। .....'' सीमोनी डी बीनव्यायर अपने नायक को जीवन का ऐसा आयु-वर्द्धक रसायन पिलाते हैं कि वह वृद्ध नहीं होता और हमारे युग तक जीता है। फोस्का महाशय यूरोप और अमरीका के साथ शताब्दियों के जीवन-तत्त्व को देते हुए मंत्रोच्चार करते हैं कि ''साधारणतया मानवता के समस्त कार्य और विशेषकर व्यक्ति के प्रत्येक कार्य अनुर्वर होते हैं; भाग्य ने विश्व के पिंजड़े में जनों को कैद कर रक्खा है,

जिन्हें स्वाधीनता मरने पर ही मिलती है।'' एफ० काफ्का और एम० मान्थरलैंट अभिव्यक्तिवादी हैं, जिनकी रचनाएँ भी ह्रासोन्मुख साहित्य की प्रतीक हैं।

अमरीका में जॉन स्टीनबेक, यूजेनी ओ' नील, रिचार्ड राइट, जॉन डोस पेलोस, थार्नटन विल्डर, विलियम सरोयान और जरट्रड स्टीन ह्रासोन्मुख साहित्य के विख्यात लेखक हैं। जॉन स्टीनबेक की पुस्तक "Bombs Away" है। इसमें उसने अपने देश अमरीका का यह चित्रण नहीं किया, जो उसके देश ने द्वितीय महायुद्ध में फासिस्टों के विरुद्ध मोर्चा लेने में दिखाया था। इसके बजाय उसने अपनी इस पुस्तक में उन अमरीकी उड़ाकों की सराहना की है, जो जन-सेवा को अपना पेशा नहीं समझते थे, वरन् लाभ उठाने को ही अपना पेशा समझते थे और वह यह तक नहीं जानते थे कि वह किसके विरुद्ध लड़ते थे, अथवा वह किसपर गोलेबारी करते थे। इस लेखक की दूसरी पुस्तक "Cannery Row" है। इसमें उसने कैलीफोर्निया के इडेन बागीचे के ऐश्वर्य में रहनेवालों का वर्णन किया है, जिससे ज्ञात होता है कि उसने यथार्थ के स्थान पर मूर्खों के स्वर्ग का ही चित्रण किया है। उसने मनुष्य के इस अधिकार की घोषणा की है कि वह जीवन की आँधी और आफत से बचने के लिए अपनी ईजाद की हुई उस एक छोटी-सी दुनिया में बसे, जो निस्सार और घृणित सुखों की दुनिया है। यह उपन्यास तब लिखा गया था, जब फासिस्टी हिंस्र पशु प्राणघातक आक्रमण कर रहे थे। अपनी तीसरी पुस्तक "The Way-ward Bus" में उसने पाठक को यही सीख दी है कि जीवन चाहे जैसा कुरूप हो, उसे वैसा ही ग्रहण करो। वह सामाजिक परिवर्तन करने का पक्षपाती नहीं है। वह तो अमरीका के सब लोगों को जानवरों के धरातल पर लाने का हिमायती है। यूजेनी ओ' नील में फ्रायडवाद का झुकाव है। वह जीवन का अंधकारमय चित्रण करता है। वह भी मनुष्य की पशु-प्रवृत्ति पर जोर देनेवाला लेखक है। वह अपने पात्र लैरी के मुख से कहता है कि ''मेरे लिए सब वस्तुएँ अर्थहीन उपहास हैं, क्योंकि वे मुझपर मौत की एक खोपड़ी से दाँत पीसती हैं।'' वह यह भी कहता है कि ''मृत्यु एक सुन्दर लम्बी निद्रा है..... और यह मृत्यु मुझतक जल्दी नहीं आ सकती।'' वह लैरी के शब्दों द्वारा मनुष्यों का अपमान तक करने में नहीं चूका। वह लैरी कहता है कि ''तुम पूछते हो कि मैंने आन्दोलन क्यों छोड़ दिया। मेरे पास इसके बहुत से अच्छे कारण थे। एक तो मैं स्वयं था, दूसरे मेरे साथी थे, और अन्त में सुअरों की सन्तान जनता थी।'' यही लैरी यह भी कहता है कि ''जहाँ तक मेरे साथियों का सम्बन्ध है, जोकि एक महान् कार्य में लगे हुए हैं, मैं उनके विषय में उसी प्रकार अनुभव करता था, जैसा कि होरैस वालपोल इंग्लैण्ड के बारे में अनुभव करता था कि वह उसे प्यार कर सकता था यदि उसकी जनता न होती। आदर्शमुक्त समाज के निर्माण का मसाला स्वयं मनुष्य ही तो हैं, क्योंकि तुम संगमरमर का मंदिर कीचड़-काँदों से नहीं बना सकते।'' नीग्रो लेखक रिचर्ड राइट ने अपनी पुस्तक "The man who lived Underground" में नीग्रो लोगों को लकवा लगे भयभीत व्यक्तियों की तरह चित्रित किया है, जो इस योग्य ही नहीं रहे कि अपने जालिमों से मोर्चा लें। यही नहीं, उसने अधिकारियों को एक ऐसी

दुस्तर शक्ति के रूप में व्यक्त किया है, जिसके विरुद्ध संघर्ष करना व्यर्थ और निरर्थक है। जॉन डोस पेसोस तो लगातार यही प्रचार करता रहा है कि सब प्रगतिशील विचारों के खिलाफ लड़ाई लड़ना चाहिए। वह अपने साहित्य द्वारा अमरीकी साम्राज्यवाद की रुचि की ही तुष्टि करता है। इसीलिए वह क्रान्तिकारियों को आध्यात्मिक शक्ति से रहित समझता है। थार्नटन विल्डर, युद्ध के पहले से ही, आज के अमरीकी पूँजीपतियों का वंदन करता था। उसने अपने नाटक "Our Town" में मुर्दा-से अमरीकी ग्रामगृहों के समूह की प्रशंसा करायी है। नाटक की नायिका मरणोपरान्त दूसरी दुनिया के लिए प्रयाण करती है। स्टेज के मैनेजर के रूप में ईश्वर प्रकट होता है। नायिका को थोड़ी देर के लिए जी रहे लोगों के बीच भेजता है। एक तरह से उसने अमरीका के एक खराब नगर को मुर्दों की आँखों से देखकर इन्द्रधनुष के रंगों से रंगा दिखाया है। इसी लेखक ने अपने दूसरे नाटक "The skin of our teeth" में जीवन को एक लट्टू की तरह घूमनेवाला, जीवन को नित्य रहनेवाला, और पूँजीवादी प्रथा को विनाश न होनेवाली बतलाया है। विलिमय सरोयान अपना प्रेम और अपनी करुणा समान रूप से गरीब-अमीर दोनों को देता है, गोकि अमीरों के आदेश पर ही पुलिस गरीबों के सिर तोड़ती है। जरट्रड स्टीन का विचार है कि ''जब जनता शांति से अघा जाती है, तब युद्ध चाहती है और जब युद्ध से अघा जाती है, तब शांति चाहती है। इसके अतिरिक्त वह कर ही क्या सकती है?'' वह पेताँ के प्रति सहानुभूति भी प्रकट करती है।

रूस में भी ह्रासोन्मुखी साहित्यकारों की कमी नहीं रही। सालोगब ने व्यक्ति की सत्ता को ज्ञानहीनता कहा है। वैसिली रोजैनाँव ने कामुकता के गीत गाये हैं। लियोनिड एंड्रियाई ने घृणा और भय की कहानियाँ और उन्हीं के नाटक लिखे हैं। आर्ट्सीबासेव ने अपना नायक दो टाँगों वाले पैजामा पहने एक विषयी बकरे को चुना है। एंड्रियाई बेली सदा नये रूपों की खोज में घूमने वाला, किन्तु उन्हें न पाने वाला साहित्यकार है। मेरेझखोवेस्की, व्याचेसलाव, इवानोव, मिखाइल कुज़मिन, एंड्रियाई बेलीयाई, ज़िनैडा हिपियस और ज़िनोवियवा अन्नीबाल भी सुधार-विरोधी प्रतिक्रियावादी साहित्यकार थे। रॉपशिन और विनोचेंको भी रूसी साहित्य के उच्चादर्श से च्युत होकर प्रतिक्रिया के तम्बू में चले गये थे। रूसी साहित्य में कई ऐसे 'वाद' भी चल निकले, जो समाज-विरोधी प्रवृत्तियों को साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान देने लगे। गोर्की ने सन् 1907 से लेकर 1917 तक के साहित्य को अत्यन्त निम्नकोटि का तुच्छ साहित्य बताया है। उसी काल में रूस में प्रतीकवादियों, भविष्यवादियों, सिरैपियन-बन्धुओं के हलवादियों और परिपूर्णतावादियों (Acmeists) का उदय हुआ था। ए० ए० ज्दानोव ने इन सिरैपियन बन्धुओं के दलवादियों के साहित्य के विषय में कहा था कि इसमें न सैद्धान्तिक तत्त्व रहता है, न सामाजिक महत्ता रहती है। ऐसा साहित्य ''कला कला की गलार'' हाँकता है, जिसका न कोई उद्देश्य होता है, न कोई मतलब होता है। वास्तव में इसमें कूट-कूटकर अशिक्षा और अंधकार भरा रहता है। परिपूर्णतावादियों के विरुद्ध भी ज्दानोव ने लिखा है। वह अत्यन्त व्यक्तिवादी कलाकार थे। वह भी ''कला कला का गलार''

हाँकते थे, ''सुन्दरता सुन्दरता'' की बकवास करते थे। यह न तो जनता के बारे में कुछ जानना चाहते थे, न उसकी आवश्यकताओं के बारे में और न उसके सामाजिक जीवन के बारे में। यह ''मध्ययुग चलो'' का नारा लगाते थे। मिखाइल जोश्चेंको ने काफी अपमान दूषित साहित्य लिखकर कमाया है। सन् 1943 में जबकि महायुद्ध पूरे ज़ोर पर था, तब उसने ''सूर्योदय से पूर्व'' नामक कविता में अपनाये गये जीवन का विस्तृत व्योरा दिया था, जिसमें उसने कलंकित कामुकतापूर्ण कृत्यों का ही चित्रण किया। इसके बाद भी उसने ''बन्दर के साहसिक कृत्य'' नामक कविता में जनता का मखौल उड़ाया। ज़ोश्चेंको ने स्वयं कहा है कि ''..... मैं न कम्यूनिस्ट हूँ, न समाजवादी क्रान्तिकारी हूँ, न राजतंत्रवादी हूँ; मैं तो सिर्फ ..... राजनीति से च्युत अधर्मी मात्र हूँ।'' अन्नाअख्मतोवा कवयित्री भी उसी यश की भागी हुई हैं, जिस यश के भागी जोश्चेंको महाशय हुए हैं। इनके लिए ज्दानोव ने कहा है कि यह न एक तपस्विनी हैं, न एक वेश्या हैं, वरन् तपस्विनी और वेश्या दोनों हैं, जिसके वेश्यापने में प्रार्थना सम्मिलित है।

सन् 1917 से लेकर सन् 1922 तक रूस में ''सर्वहारा संस्कृति'' नाम का एक सांस्कृतिक और शिक्षा-सम्बन्धी संगठन था, जिसका उद्देश्य यह था कि वह जनता के बीच से प्रतिभा सम्पन्न लेखकों को खोजे और उन्हें विशेषज्ञ बनाकर उनसे सर्वहारा संस्कृति का विकास और विस्तार कराये। इस संगठन का नेता ए० बोगडेनाव था, जो इस बात का विश्वासी था कि नव साहित्य और नव कला के निर्माता ऐसे संगठन की प्रयोगशाला में पैदा होते हैं और संस्कृति वहीं, जीवन और संघर्ष से दूर एक विशेष प्रकार से निर्मिति होती है। इसीलिए संगठन अधिक दिन जीवित न रह सका। इसीलिए यह जन-सम्पर्क का साहित्य न दे सका। इसकी जन-विरोधी नीति देखकर ही तो कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति ने 1 दिसम्बर, 1920 को इस संगठन वालों के नाम एक पत्र लिखा, जिसमें उसने इस संगठन के कार्य की घोर निन्दा की, क्योंकि इसके द्वारा मजदूरों में हानिकारक प्रजातंत्रविरोधी भावनाओं और कला के वैसे ही सिद्धान्तों का प्रचार किया जाता था।

समरसेट माप ब्रिटेन का व्यक्तिवादी ह्रासोन्मुखीन उपन्यासकार है। उसका एक उपन्यास ''तब और अब'' है। इसमें उसने भूतकाल का ही चित्रण किया है, आनेवाले कल का नहीं। उसने यह भी प्रतिपादित किया है कि मानव जाति परिवर्तनशील नहीं है। जैसी कि वह आदि में थी वैसी ही रहेगी। जनता सदा वही रही है और सदा वही रहेगी। द्वेष, कपट, और अति लोलुपता के प्रमुख लक्षणों से ही मनुष्य की पहचान होती है। मनुष्य एक ऐसा जन्तु है, जिसके अन्तर्जात प्रवृत्तियों के अतिरिक्त एक मस्तिष्क भी है और इसलिए वह जन्तु-जाति के अन्य सदस्यों से अधिक भंयकर और कुत्सित है। मनुष्य के आचरण की प्रेरक शक्तियाँ भूख, भय और अपनी जाति को नित्य किये रहने की भावना हैं। यह लेखक मैकियावेली चरित्र के रूप में आदमी रूपी जानवर का चित्रण करता है। मैकियावेली अपने युग के शासकों को सीख देता है कि धोखा देने के लिए लोमड़ी बनो और पशुबल से पराजित करने के लिए शेर बनो। माम

महाशय के मतानुसार संसार में कुछ भी लज्जाजनक अथवा पापपूर्ण नहीं है। वह तो कोई भी पाप करने की अनुमति देता है। वह अपने पात्रों और पाठकों दोनों को लज्जा न मानने की सलाह देता है। वह कहता है कि कला का धर्म जीवन के सत्य को स्वीकार करना नहीं है। उसका धर्म तो मनुष्य की विस्मृति के विषय सुख को उत्तेजित करना है। जनता के विषय में वह कहता है कि उसे हमेशा लगाम से काबू में किये रहना चाहिए। वह यह भी कहता है कि यह तो एक भ्रम है कि जनता अपने आप शासन कर सकती है। जनता को तो सदैव उससे एक बड़ी शक्ति चाहिए, जिसके आगे वह सिर झुका सके। उसकी प्रवृत्तियाँ अत्यन्त प्रतिक्रियावादी हैं, क्योंकि उसकी धारणा है कि 'हिटलर' सनातन सत्य है और वही मानवता के गुणों को प्रतिविम्बित करते हैं; उनसे लड़ना व्यर्थ है।

यही हाल इंग्लैण्ड में देखने को मिलता है। आस्कर वाइल्ड ने कला की असत्यवादिता के ह्रास पर क्षोभ प्रकट किया। आब्रीब्रियर्डस्ली का भी यही दृष्टिकोण था। वाल्टरपेटर और जॉन एडिंगटन का सिद्धान्त था कि सौन्दर्य जीवन की रक्त-गति को द्रुतता प्रदान करता है, इसलिए जीवन को, जो क्षणभंगुर है, उससे प्रभावित करना चाहिए। अर्नेस्ट डाउसन ''पीड़ा का संगीत'' का लेखक था। रिमबॉड और मलारमे प्रतीकवादी थे, जिनके प्रभाव में एडिय सिच्वेल और टी० एम० इलियट आये, जिन्होंने अवचेतन मन की कविता लिखी। सिटवेन ''क्यूविस्ट'' कहलाये। डी० एच० लारेन्स भी अवचेतन मन का कवि था। वाल्टर डीला मेयर को ''खोये हुए स्वर्ग'' का कवि कहा गया है। वह इस बात से अत्यधिक प्रभावित रहता था कि सौन्दर्य कितना क्षणभंगुर और नाशवान है। इसी हेतु वह कहता था कि ''निस्संदेह अदृश्य, काल्पनिक, और अकथित विस्मृति का कृत्रिम जगत् ही मरण के स्पर्श से सुरक्षित है।'' उसकी प्रतिभा इसमें थी कि वह परिचित को अपरिचित और सत्य को असत्य कर दे। उसकी आत्मा भौतिक शरीर से मुक्ति पाने के लिए छटपटाती रहती है। वह एकाकीपन का अत्यधिक अनुभव करता है। वह इस बात से दु:ख पाता है कि जो गीत उसने एक दिन अकेले बैठकर गाये थे। अब उनकी शब्द-शक्ति और उनका संगीत लुप्त हो गया है और अब उसके ऊपर युगों-युगों का भार लदा हुआ है। वही भार वह प्रकृति के ऊपर भी लदा देखता है। वह बोल न सकने, सिर के हिलने और आँखों के शांत पड़ने और इच्छाओं के मृत होने पर आकाशी धनुर्धारी से अपना धनुष झुकाने के लिए प्रार्थना करता है। वह कहता है कि अब जीवन की लौ मंद होकर जल रही है, यौवन त्याग गया है; इसलिए अब वह भी चलना चाहेगा। वह मृत्यु का उपासक कवि है। जीवन को वह मरणपर्यंत तक उलझनों की एक लट समझता है। टी० एस० इलियट की कविताएँ ''वेस्ट लैंड'' और ''हॉलो मेन'' राखघर के निर्जीव व्यक्तियों की रचनाएँ हैं। डी० एच० लारेंस का कथन है कि ''मेरा महान् धर्म मस्तिष्क का नहीं है, वरन् रक्त-मांस में विश्वास रखनेवाला ज्ञानी धर्म है।'' विलियम बटलर ईट्स की धारण है कि ''..... सब लोग यह मत उत्तरोत्तर त्याग देंगे कि कविता 'जीवन की आलोचना' है और सबलोग

अधिकाधिक समझ लेंगे कि कविता लुप्त जीवन का दैवी प्रकाशन है।'' हरबर्ट रीड के मतानुसार ''शुद्ध सत्ता के अन्तर्ज्ञान के बगैर सबसे श्रेष्ठ कविता की कल्पना नहीं हो सकती। वह कला शून्य है, जो पूर्णतया की झलक नहीं देती।'' टी० एस० इलियट का विश्वास है कि कलाकार की प्रगति उसके आत्मत्याग और उसके व्यक्तित्व के सतत मरण में है। ..... सेसिलडे लेविस का कहना है कि कविता मन की एक दशा बनाती है।

❑

प्रगतिशील लेखक संघ : मेरे सुझाव

शिक्षा-प्रसार के कारण विद्यार्थियों में साहित्य के प्रति अभिरुचि बढ़ी है, यह निर्विवाद सत्य है। किन्तु यह भी ठोस सत्य है कि यह अभिरुचि, विशेषकर विश्वविद्यालयों और कालेजों के उच्चकक्षा के विद्यार्थियों में बढ़ी है। छोटी कक्षा के विद्यार्थियों में यह अभिरुचि अत्यन्त न्यूनमात्रा में पायी जाती है। इसका प्रमाण यही है कि साहित्य की गोष्ठियाँ अधिकतर विश्वविद्यालयों के छात्रगण ही बनाते हैं और वही कवि-सम्मेलनों, गल्प-सम्मेलनों और वाद-विवाद-प्रतियोगिताओं का आयोजन, एक अच्छे पैमाने पर, समय-समय पर करते हैं। स्कूलों और कालेजों में भी साहित्य की समितियाँ बनती हैं, लेकिन उन समितियों का साहित्य-सम्बन्धी काम बहुत मद्धिम रूप से चलता है और कोई सफल साहित्यिक परिणाम भी उसका प्रभावकारी नहीं होता। उनके द्वारा विद्यार्थियों को साहित्य का कुछ-कुछ परिचय प्राप्त होता है और उस परिचय में उनमें साहित्यिक अभिरुचि के अंकुर मात्र उत्पन्न होते हैं। यही नहीं, विश्वविद्यालयों के छात्र ही पुस्तकालयों और लाइब्रेरियों से साहित्य की पुस्तकें अधिक संख्या में लेते और पढ़ते हैं। छोटे स्कूलों या कालेजों की लाइब्रेरियों में पुस्तकों का भण्डार भी कम होता है और उनके पढ़ने वाले भी कम ही होते हैं।

इसके विपरीत जन-साधारण की कुछ और ही दशा है। उनमें से अधिकांश ऐसे होते हैं, जो पुस्तकों या पुस्तकालयों के पास तक नहीं जाते और जाते भी हैं तो समाचार-पत्र पढ़कर चले आते हैं, और यदि बहुत मन चला तो मासिक पत्रिकाएँ देख लीं या दो-एक जासूसी उपन्यास ले लिए। इसी में उनकी साहित्यिक अभिरुचि समाप्त हो जाती है। शेष जो लोग बचते हैं, उनमें भी समाज के कई स्तर के व्यक्ति होते हैं और एक बड़ी संख्या ऐसी निकल जाती है, जो नौकरी-पेशा के लोगों की होती है, जिनसे साहित्य से नाता ही छूट जाता है। अब बचे स्कूलों, कालेजों और विश्वविद्यालयों के शिक्षकगण। इनकी भी दशा निराली है। अपने-अपने विशेष विषयों की पुस्तकें तो वे पढ़ते हैं, किन्तु वे सब साहित्य में अभिरुचि नहीं रखते। हाँ, साहित्य-विभाग के शिक्षकों को अवश्य साहित्यिक पुस्तकों से प्रेम होता है और वही उन्हें देखते भी हैं।

पढ़ी-लिखी औरतों की संख्या बहुत कम है और वे अधिक साहित्यिक रुचि भी नहीं रखतीं। न तो औरतों के साहित्यिक सम्मेलन होते हैं और न उनकी अपनी समितियाँ होती हैं। उनका पुस्तकों का चाव ऐसा नहीं होता कि जिसका प्रभाव साहित्य के प्रसार में पड़े और उनकी अभिरुचि एक विशेष दिशा की ओर जाती दिखायी पड़े।

स्वयं साहित्यिकों और लेखकों के विषय में क्या कहना है। वे बहुत कम ही पुस्तकें मोल लेकर पढ़ते हैं। साथ ही वे इतने क्रियाशील भी नहीं होते कि वे स्वयं साहित्यिक आन्दोलनों को जन्म देकर चलाते रहें। गये युग में उनका साहित्यिक रोल तो बहुत साधारण था। अभी हाल में वे अवश्य चेते हैं और अब नये साहित्यिक आन्दोलनों का संचालन करने लगे हैं। भविष्य में इसका परिणाम अच्छा होगा और साहित्य को विशेष दिशा मिलेगी।

ऐसी दशा में प्रगतिशील लेखक संघ का यह कर्तव्य है कि वह जनता की साहित्यिक अभिरुचि को पूरी तरह समझे और वस्तुस्थिति को देखते हुए अपना घनिष्ट और अत्यधिक सम्बन्ध ऊँची शिक्षा के विद्यार्थी-वर्ग से विशेष रूप से स्थापित करे; साहित्य के शिक्षकों से ममत्व का नाता जोड़े; साहित्यिकों, लेखकों, कवियों और कथाकारों आदि से सक्रिय सहयोग प्राप्त करे; और साहित्यिक समितियों, पर्वों, और सम्मेलनों को गति और दिशा दे। यह अत्यन्त उत्तरदायित्व का काम है, जिसे प्रगतिशील लेखक संघ को करना है। ऐसा करने से ही उसका क्षेत्र व्यापक और विस्तृत होगा और उसको नये समझदार सदस्य मिलेंगे। उन्हीं पुराने इने-गिने सदस्यों के सहयोग मात्र से अब यह संघ न अपनी सत्ता कायम रख सकता है; न नये साहित्य की पर्याप्त मात्रा में रचना कर सकता है; न अनेकानेक आवश्यक साहित्यक आन्दोलनों का सूत्रपात और संचालन कर सकता है; न जनता और जीवन की समस्याएँ जानकर उनका सफल निरूपण कर सकता है; और न कुंठावादी, प्रतिक्रियावादी और अहंवादी साहित्य का सृजन रोक सकता है।

सच तो यह है कि अब तक प्रगतिवाद ऊपर से ही साहित्य में आया है। कुछेक व्यक्तियों ने उसकी आवश्यकता समझी और वही उसके अगुआ बनकर इस संघ का संगठन करते और उसे चलाते रहे। अपने इस काम में उन्हें अच्छी सफलता मिली और इस काम के परिणाम भी अच्छे हुए। कम-से-कम यह तो हुआ कि साहित्य के प्रगतिवादी दृष्टिकोण से लोगों का परिचय हुआ। लोगों ने उसे जाना-समझा और परखा। जो प्रगतिवादी साहित्य लिखा गया, उसमें ताजगी, स्फूर्ति और प्राण आये। उसके द्वारा जीवन को बल और साहस प्राप्त हुआ। जन-साधारण साहित्य में आया और उसकी प्रतिष्ठा हुई। आस-पास, घर-बार, खेत-खलिहान, गाँव-शहर, कल-कारखानों और विभिन्न शोषित वर्गों का चित्रण हुआ। आदर्श के स्थान पर यथार्थ पैठा। साहित्य के मूल्यांकन का नया मापदंड निकला। एक युगान्तरकारी परिवर्तन हुआ। अनेकों साहित्यिक भ्रम टूटे। अनेकों नयी आस्थाएँ आयीं। परन्तु इतना होते हुए भी प्रगतिवाद के संचालक उसे 'विशाल जनवादी साहित्यिक संघ' का रूप न दे सके। अपने प्रारम्भिक काल में अवश्य प्र० ले० संख्या को हिन्दी के प्रतिष्ठित साहित्यिकों का सहयोग प्राप्त हुआ, किन्तु कुछ ही काल बाद देश की विशेष परिस्थितियों में वह सहोयग भी जाता रहा और प्र० ले० संख्या अकेले ही अपनी नाव खेता रहा। वह डूबा नहीं, किन्तु अपने लक्ष्य के तट पर पहुँच सका। ऐसी ही दशा में उसके कर्णधारों ने 'साहित्य में संयुक्त

मोर्चे' की आवाज उठायी थी। इस आवाज में ईमानदारी और जन-कल्याण की भावना विद्यमान थी, किन्तु दण्ड और दमन के कारण हिन्दी के साहित्यिक इस मोर्चे में न आये और यदि कुछेक आये भी तो ऐसे कि जैसे न आये हों। उनके साथ न आने का कारण यह भी था कि प्रगतिवादी आलोचकों ने उनके साहित्य की निर्मम यथार्थवादी कटु आलोचना की थी। चाहे जो भी हो, यह सत्य है कि यह 'संयुक्त मोर्चा' धीमी साँस लेकर जीता रहा। इसपर भी प्रगतिवादियों ने आशा नहीं छोड़ी और वे साहित्य में 'न्यूनतम कार्यक्रम' का प्रस्ताव लेकर अन्य सभी साहित्यिकों के पास आये। पहले के बिछुड़े हुए प्रतिष्ठित साहित्यिकों ने सहयोग दिया और काफी प्रभावशाली जन-कल्याण का काम चल पड़ा। आशा बँधी कि प्र० ले० संख्या प्रसार पायेगा। लेकिन न्यूनतम कार्यक्रम का आन्दोलन भी सब लेखकों को साथ में न ला सका और आज परिस्थिति यह हो गयी है कि प्र० ले० संख्या की शाखाएँ और केन्द्र निष्क्रिय हैं और प्रगतिवादियों में, सिवाय कुछ के, शेष सक्रिय नहीं हैं। कोई किसी का शिकार है, कोई किसी का। साहित्यिक समस्याएँ तो इतनी तीव्र और तीक्ष्ण होकर सामने आयी हैं कि उनके सम्बन्ध में स्वयं प्रगतिवादियों में मतभेद बढ़ गया है। इसके फलस्वरूप राजकमल की त्रैमासिक 'आलोचना' का जन्म हुआ और उसके माध्यम से श्री शिवदान सिंह के सम्पादकत्व में इस मतभेद का पूर्ण परिचय मिला। आपसी कटुता का इतना अच्छा विस्फोट हुआ कि दंग रह जाना पड़ा। आखिरकार अब वह भी न रहा, क्योंकि श्री चौहान ''आलोचना'' से चले गये। और अब तो एक दूसरे प्रकार के प्रगतिवाद-विरोधी आन्दोलन का आरम्भ हुआ, जो ''आलोचना'' के सम्पादकीय से हुआ पड़ता है। ऐसा, प्रगतिवाद के खेमे में कमजोरी देखकर ही, किया जा रहा है। ''नया साहित्य'' की कहानी भी भूलने की नहीं है। पहले वह बम्बई से निकला। अच्छा निकला और हिन्दी के तमाम लेखकों, कवियों और कथाकारों का सक्रिय सहयोग मिला। दुबारा, बनारस से, आग और आँच लेकर प्रकटा। अब की बार केवल उग्र साहित्यिकों का सहयोग मिला। कई अंक निकले और फिर बन्द हो गया। तिबारा, प्रयाग से, प्रकाशित हुआ। यह संयुक्त मोर्चे का समय था। फिर भी अधिक दिन न चल सका और ठप्प हो गया।

अतएव अब ऐसी परिस्थिति आ गयी है कि प्र० ले० संख्या को अपने पिछले इतिहास को ध्यान से देखकर यह निष्कर्ष निकालना पड़ेगा कि लाख अच्छा होते हुए भी उसका ऊपर से आरोपित आन्दोलन अधिक दिन जीवित नहीं रह सकता था और उसकी अन्तिम परिणति यही होनी थी जो हुई, और अब अपनी वर्तमान अवस्था में उसे अपनी पिछली दुर्बलताओं के पथ को छोड़कर नये तरह से नये पथ पर चलना होगा, ताकि प्रगतिवाद नीचे से आये, जिसमें नयी पीढ़ी के नौजवानों का, पुराने सहयोगियों, साहित्यिकों और कवियों का, तथा साहित्य के पाठकों का स्वस्थ, सबल, और प्यारा स्वर हो। इस काम में चाहे जितना समय लगे लगाना चाहिए। जनता में रमे हुए प्रगतिवाद को ऊपर उठाना चाहिए। जनता से लाया हुआ प्रगतिवाद जनता का होगा।

उसमें दुर्बलताएँ न होंगी। वह अनुभव से भरा-पूरा होगा और जीवन की शक्ति और क्षमता लिए हुए होगा। साथ ही उसके पैर जनता के पैरों में बँधे होंगे और वह जनता के साथ-साथ चलने का अभ्यासी होगा। ऐसा प्रगतिवाद न आँधी से डरेगा, न हारेगा। और जीवन की जीत के साहित्य का डंका बजाता चलेगा।

प्रगतिवाद नीचे से ऊपर कैसे लाया जाय?

ऐसा करने के लिए प्र० ले० संख्या का पुनर्संगठन करना होगा।

यह संगठन कैसा हो?

यह संगठन अखिल भारतीय होगा। इसकी एक केन्द्रीय समिति होगी और कई प्रान्तीय समितियाँ होंगी। प्रत्येक प्रान्तीय समिति की अपनी कई शाखाएँ होंगी, जो भिन्न-भिन्न स्थानों में काम करती होंगी। प्रत्येक शाखा प्रान्त से सम्बन्धित होगी और प्रत्येक प्रान्त केन्द्र से सम्बन्धित होगा।

यह पारस्परिक सम्बन्ध कैसा हो?

इस सम्बन्ध का रूप-निर्धारण न केन्द्र करेगा, न प्रान्त। प्रत्येक शाखा स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप अपना रूप निर्धारित करेगी। यदि वह कृषकों की बहुतायत का स्थान है, तो वहाँ कृषकों के जीवन का विशेष महत्त्व होगा और ऐसे स्थान की शाखा कृषक सम्बन्धी प्रगतिशील साहित्य सृजन करेगी। यह शाखा अपने क्षेत्रीय जन-जीवन के सांस्कृतिक, साहित्यिक, सामाजिक और आर्थिक स्तर को पहचानेगी और उससे पूर्ण अवगत होकर वहाँ की परम्परा से अपना घनिष्ट सम्पर्क स्थापित करेगी, ताकि वह ऐसा साहित्य दे सके, जो स्थानीय व्यक्तियों की रुचि के अनुकूल हो और अजूबा और अग्राह्य न हो। साथ ही उसमें यथार्थ की सत्यता होगी और वहाँ की लोकवाणी का रस-परिपाक भी। उसकी भाषा भी लोक-भाषा के साँचे में ढली हुई होगी। निश्चय ही, ऐसा करने से, शाखा सबकी प्रिय शाखा बन जायेगी। किन्तु साधना कठिन है। एक अच्छे, कर्मठ और बुद्धिमान संचालक के द्वारा ही वह साधना सिद्धि प्राप्त कर सकती है। क्या यह कभी सम्भव है कि केन्द्र या प्रान्त उस क्षेत्र की जन-अभिरुचि या वहाँ की परिस्थितियों की विशेषताएँ जान ले और स्वयं ही उस क्षेत्र का विशेषज्ञ बन सके? कदापि नहीं। उस क्षेत्र की शाखा ही उस क्षेत्र की विशेषज्ञ है और वही वहाँ 'प्र० ले० संघ' का काम अपने स्थानीय ढंग से कर सकती है। केन्द्र या प्रांत तो केवल यह देखते रहेंगे कि शाखा का काम ठीक चल रहा है या नहीं; कहीं कोई भटकाव है या नहीं। और किस सुझाव की किस समय जरूरत है। साल भर में शाखा अपनी रिपोर्ट प्रान्त को देगी, जिसमें उसके कामों का पूरा-पूरा विवरण होगा और साथ ही उस रिपोर्ट से यह भी व्यक्त होगा कि किसप्रकार की क्या-क्या कमजोरियाँ रही हैं, जिनके कारण सफलता नहीं मिली। अपने आरम्भिक काल में शाखा का काम मुख्यतया सब साहित्यिकों को एकजुट करने, प्रचलित प्राप्त सामग्री के संकलन करने, क्षेत्रीय विशेषताओं को ग्रहण करने और इस सब को जनवादी दिशा देने का होगा। ऐसा करते-करते ही शाखा अपना जनवादी क्षेत्र तैयार कर सकेगी और प्रगतिशील साहित्यिकों की

जमात बना सकेगी। बिना ऐसा किये उस क्षेत्रीय शाखा पर वही कार्यक्रम उसी स्वभाव का नहीं लादा जा सकता, जो दिल्ली से निकला हो, प्रयाग से चला हो, लखनऊ-बनारस से वी० पी० आया हो अथवा कानपुर-बम्बई की आबहवा लाया हो। प्रगतिशील लेखक संघ स्थानीय ऐतिहासिक और साहित्यिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों की अवहेलना कर कदापि अपना आन्दोलन लोक-व्यापी नहीं बना सकता।

ठीक इसी प्रकार शहरी शाखाएँ, अपनी-अपनी स्थानीय परिस्थितियों को पहचान कर, वहाँ के अनुरूप ही अपना कार्यक्रम निर्धारित करेंगी, जिनमें प्रगतिवाद के मूल तत्त्व रहेंगे, किन्तु वे अन्य क्षेत्रीय शाखाओं की स्थानीय विशेषताओं के कार्यक्रम से भिन्न रूप और प्रवाह के होंगे। इस पर भी प्रत्येक शाखा का सार सब शाखाओं के स्वर से मेल खाता हुआ होगा।

प्रान्त का काम यह होगा कि अपनी शाखाओं के कार्य से उन्हें अवगत कराये; उनके साहित्यिकों का सम्बन्ध एक-दूसरे से बढ़ाये; एक क्षेत्र की उम्दा कारगर हुई प्रणाली को अन्य उसी स्वभाव के क्षेत्र में पहुँचाये, इन सब शाखाओं के कामों के भीतर से प्रगतिवादी मानव को खोज निकाले और उसकी रूपरेखा प्रस्तुत करे; और भविष्य में उस मानव को उभारकर ऊपर लाने के लिए एक प्रान्तीय कार्यक्रम भी रखे।

केन्द्र का कार्यक्रम भी कुछ प्रान्त ही जैसा होगा। वह प्रान्तों की रिपोर्टों के आधार पर ही 'अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' का संचालन करेगा और प्रान्तीय साहित्यिकों को एक-दूसरे के निकट लाकर ही उनके विभेद को मिटायेगा। साथ ही जनता की प्रगतिवादी विचारधारा का ऐसा स्वरूप निर्धारित करेगा, जो समान रूप से सब जगह प्राप्त होता है। यह करना इतना जरूरी है, जितना कि जीने के लिए साँस लेना। फिर केन्द्र का दायित्व यह भी होगा कि वह यह बताये कि किसप्रकार यह विचारधारा सब क्षेत्रों में पहुँचायी जाये। अलावा इसके, यह भी केन्द्र का काम होगा कि वह समय-समय पर प्रान्तों के द्वारा सब क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय जनवादी साहित्य को भेजे।

जब ऐसा किया जायेगा, तभी प्रगतिवाद नीचे से ऊपर लाया जा सकता है, जो गतिरोध का शिकार न होगा, वरन् सबल और चिरंजीवी होगा। उसमें देश की विभिन्न साहित्यिक परम्पराओं का रूप होगा। वह नये मानव का नया साहित्य होगा। वह सब प्रकार से विकासशील होगा।

❑

उल्टी खोपड़ी की उपज

एक कोई सरस्वती सरन हैं। मैं नहीं जानता कि वह कौन हैं? उन्होंने हमारे इलाहाबादी 'लीडर' के 29 जनवरी के साप्ताहिक अंक में हमारी हिन्दी के जन्म और विकास के बारे में एक लेख लिखा है। मैंने उसे पढ़ा और गौर किया। लेख क्या है हिन्दी के बारे में उनके मनोमालिन्य का इजहार है—वमन है। आदि से अन्त तक दृष्टि-दोष से भरपूर। विचार और विवेक का इसमें कहीं नाम तक नहीं। प्रयत्न इस बात का किया गया है कि जैसे यह लेख बहुत गुन कर लिखा गया हो। पर बात उलटी ही है। कोई भी इसे पढ़े, तो सहज ही मालूम हो जायेगा कि यह सरासर उल्टी खोपड़ी की उपज है।

छिन्न मूल व्याख्या

उक्त लेखक महोदय कहते हैं कि हिन्दी (खड़ीबोली) की उत्पत्ति बहुत हाल की है। यही करीब डेढ़ सौ साल पहले ही वह साहित्य का स्वीकृत माध्यम बन सकी है। यह शोधकर्ताओं के समस्या यत्नों की अवहेलना करते और तीन-चार सौ वर्ष पहले की हिन्दी के लिखित उद्धरणों को नकारते हैं। तात्पर्य यह है कि इन सरस्वती सरन ने बिल्कुल असरस्वती सरन की तरह अपनी ढपली आप बजायी है और 卐'दलिद्दर' के क्षेत्र में नया मोर्चा जमाया है।

आप बघारते हैं कि भारतीय संस्कृति पर फारसी-इस्लामी संस्कृति का बहुत बड़ा दबाव पड़ा उस समय, जब भारतीय संस्कृति ह्रास की अवस्था में थी। पता नहीं, आपने यह कहाँ से और कैसे कह दिया?

जीवन्त संस्कृति

भारतीय संस्कृति कभी भी जन-जीवन से अलग होकर नहीं रही। वह न मुरदा हुई, न काल-कवलित हुई। सम्राटों ने उसे अपनाया। संतों ने उसे जीवन में उतारा। कवियों ने उसे वाणी का रूप दिया। चित्रकारों ने उसे रंग-रूप दिया। पत्थर उसे पाकर सजीव हुआ। वह लोक-मानस में जीती-जागती रही। यह बात दूसरी है कि सम्राट् हारे और नष्ट हो गये। उनके वैभव का युग बीत गया। किन्तु उनके न रहने से, उनके आश्रय से वंचित हो जाने से कभी भी भारतीय संस्कृति क्षीयमान नहीं हुई। यह किसानों के श्रम में, कौटुम्बिक जीवन में नर-नारी के स्नेह और ममत्व में, पिता-पुत्र के आत्मदान में, कर्म की अक्षुण्ण धारा और साँस-साँस में सदैव से अबतक समायी हुई है।

विजेताओं के राज्य में भी किसान खेत जोतते रहे—अनाज उत्पन्न करते रहे; भारतीय परिवार वैसे ही कामय रहे; स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध-सूत्र वैसे ही अटूट रहे; पिता से पुत्र और पुत्र से पिता स्नेह लेते और देते रहे; और कर्म की धारा अबाध बहती ही रही। जो कुछ भी नष्ट हुआ, वह था सम्राटों का समुदाय, न कि भारतीय संस्कृति। अत: यह 卐'सरनोवाच' कि इस्लामी संस्कृति के दबाव में आकर भारतीय संस्कृति का ह्रास होने लगा, सर्वथा इतिहास-विरोधी और बुद्धि तथा विवेक रहित है।

हम तो इसके विपरीत कहते हैं। सही कहते हैं। इस्लामी संस्कृति; जो विजेताओं के साथ आयी, स्वयं भारतीय संस्कृति के प्रभाव से मुक्त न रह सकी, और वह अपना मूलरूप त्यागकर सम्पर्क में आये कुटुम्बों परिवारों में प्रवेश करने लगी। उसका यह प्रवेश उन कुटुम्बियों की आत्माओं पर नहीं छा सका। राजदरबार के आश्रय और फारसी-अरबी के ग्रहण से उनकी आत्माएँ अभारतीय नहीं हुईं।

जनभाषा बनाम राजभाषा

भाषा तो माध्यम है अभिव्यक्तिकरण की। राज-दरबार की भाषा माध्यम होती है राजकाल की व्यवस्था की। राजभाषा और साधारणजन की भाषा में उन दिनों बहुत अन्तर था। राजभाषा फारसी रही हो या अरबी, कभी भी जनभाषा नहीं बनी थी। न जनभाषा पर राजभाषा का आधिपत्य हुआ था। शिक्षा-प्रसार की बहुत कमी थी। अत: यह कहना कि बारहवीं और अठारहवीं सदियों के बीच, उत्तर के हिन्दुओं ने जानबूझ कर उन्हीं बोलियों को चुना, जिन्हें मुसलमानों ने नहीं छुआ था, सरासर इतिहास को झुठलाना और सही बात को छिपाना है।

ब्रजभाषा, अवधी और मैथिली पहले ही जनभाषाएँ बन चुकी थीं। इनमें बल और अर्थवत्ता आ चुकी थी। उनका क्षेत्र विशाल हो चुका था। इसलिए हिन्दुओं ने उन बोलियों को स्वीकार किया। इसीलिए उनमें साहित्य की रचना हुई। उन्हें इसलिए नहीं अपनाया गया कि वह मुसलमानी प्रभाव से अछूती थीं। भाषा के सम्बन्ध में हिन्दुओं ने कभी भी जातिवाद को प्रश्रय नहीं दिया।

राज-दरबार में दिल्ली के पास-पड़ोस की प्राकृत शौरसेनी को अपनाकर यदि उसे फारसी विचारों का जामा पहनाया गया, तो वह केवल इसलिए कि सम्पर्क में आ गयी थी। साथ ही यह कहना भी झूठ है कि हिन्दुओं ने प्राकृत शौरसेनी को इसलिए नहीं अपनाया कि वह मुसलमानों द्वारा अपना ली गयी थी। लेखक महोदय की स्थापना अमान्य और असंगत है।

'सरसुती सरन' का एक कथन यह भी है कि लोगों ने उर्दू को इसलिए अपनाया कि अवधी, मैथिली और ब्रजभाषा तत्कालीन माँग को पूरी नहीं कर पा रही थीं और सांस्कृतिक चेतना उर्दू के माध्यम से व्यक्त हो सकती थी। यह स्थापना भी सर्वथा तथ्यों के विपरीत है।

उर्दू राजाश्रयी व्यक्तियों की जबान थी। वह सब जनता की जबान नहीं थी। लेखक महोदय ने राजाश्रयी व्यक्तियों के लिखे हुए साहित्य को पढ़कर ही ऐसा लिखने का दुस्साहस किया है। भारत की जनता ने उर्दू को अपनाकर अपनी सांस्कृतिक चेतना को साहित्य का रूप नहीं दिया। केवल राजदरबारी लोग—वह भी इने-गिने व्यक्ति ही—उर्दू से चिपके रहे। इन थोड़े से लोगों के बल पर यह स्थापित करना कि उर्दू सांस्कृतिक चेतना का माध्यम बन रही थी, सहीं नहीं हो सकता। यह शत-प्रतिशत असत्य है।

उर्दू का अरबी महल

प्राकृत शौरसेनी के व्याकरण को आधार बनाकर उर्दू ने फारसी और अरबी विचारों और अभिव्यक्ति का महल खड़ा किया। यही उर्दू अठारहवीं सदी के अन्त में, मुसलमानी प्रभुता के पतन के दिनों में, हिन्दुओं ने अपनायी। यह उर्दू तबतक मुहावरेदार और पुष्ट हो गयी थी। सूक्ष्म स्पंदनों को व्यक्त करनेयोग्य हो गयी थी। इसका भौगोलिक क्षेत्र भी बढ़ गया था। किन्तु इसका ऊपरी जामा फारसी और अरबी था, इसलिए भारतीय धार्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए यह जाना अनुपयुक्त था। अत: इस उर्दू में संस्कृत की भरमार की जाने लगी और कालान्तर में यही भाषा हिन्दी कहलायी। 'सरसुती सरन' महोदय ने इसप्रकार हिन्दी की उत्पत्ति दिखलायी है।

हम तो हिन्दी को इसतरह पैदा हुई नहीं मानते। वह संस्कृत के शब्दों की भरमार से नहीं बनी। उर्दू का पेट फाड़कर वह नहीं निकाली गयी। भाषा का विकास तात्कालिक परिस्थितियों में हुआ।

हिन्दी का स्त्रोत

हिन्दी का जन्म न किसी जातिवाद के कारण हुआ, न उर्दू का विध्वंस करने के लिए हुआ। वह जन्मी है जन-जीवन के क्रमिक विकास से। संघर्ष के साथ-साथ वह उदय हुई—भारतीयों की आत्मा में हो रहे परिवर्तनों को व्यक्त करने के लिए। उसका उद्देश्य था भारतीय चेतना की भरपूर अभिव्यक्ति। उसने फारसी और अरबी के शब्दों को उसी प्रकार त्यागा जैसे उसने अपने देश के अनेकानेक शब्दों को बहुत संख्या में त्यागा। उसने फारसी या अरबी शब्दों के साथ अन्याय नहीं किया। उन्नीसवीं सदी की उर्दू-कविता इसलिए क्षीण नहीं हुई कि हिन्दी ने उसे दबाया। वह इसलिए क्षीण हुई कि वह जन-जागृति के साथ जागकर जी नहीं सकी।

घर-गाँव की बोली

लखनऊ और दिल्ली के साहित्यिकों की जबान उर्दू राजदरबार में बन-सँवरकर निखार पर आ गयी थी और वह केवल वासना-विलास की शक्तियों को व्यक्त करने लग गयी थी। वह मुसलमान किसान और मजदूर के घर में घुसी ही कब थी कि साधारण जीवन के साथ-साथ पनपती और बलवती होती। हिन्दू किसान और मजदूर

की बात तो दरकिनार, मुसलमान किसान या मजदूर भी अपने गाँव-घर की, प्रदेश की, बोली बोलता था। नाजबरदारी में पली हुई उर्दू नाजुक रह गयी। संघर्ष से घबराकर वह बिगड़ गयी। वह किसी क्षेत्र की भाषा न होकर कुछ परिवारों की भाषा बनकर जीवन-यापन करने लगी।

हिन्दी का शृंगार

इसके विरुद्ध हिन्दी जीवन में पैठी, यह आत्मा में समायी, चेतना में चमकी। एक से अधिक क्षेत्रों में गयी। समग्र जीवन को समेटने लगी। सब प्रचलित बोलियों के स्वर और शृंगार अपनाने लगी। छुआछूत से दूर रही। पूरे अर्थ में सार्वभौमिक होने लगी। इसमें दैनिक स्थिति की अभिव्यक्ति होने लगी। आत्मा के चित्र झलकने लगे। वह घर-बाहर, हाट-बाजार सब जगह प्रयुक्त होने लगी। विद्वान् भी उसका पल्ला पकड़ने लगे। वह संस्कृत शब्दों के गम्भीर चिन्तन की मुद्रा पाने लगी। अतीत और वर्तमान का उसमें उद्‌भुत सम्मिश्रण हुआ। परम्परा और नूतन का बल मिला। वह गगन और भूमि दोनों पर जीने लगी।

उदारमना हिन्दी

हिन्दी ने अपने विकास-क्रम के इतिहास में भारत की समस्त बोलियों से अपने लिए उपयुक्त शब्द और मुहावरे लिये हैं। संस्कृत इसी देश की भाषा रही है। उसका अक्षय साहित्य-भण्डार हिन्दी के लिए उपलब्ध था। यदि हिन्दी ने उसके शब्दों को लिया और उन्हें अपना बनाया, तो हिन्दी ने कोई अपराध नहीं किया। किसने उर्दू को रोका था कि वह संस्कृत के शब्दों को न अपनाये। यदि उर्दू उससे अपने माफिक के शब्द लेती, तो हो सकता है कि वह हिन्दी के अधिक निकट आती और भारतीय जनता उसे भी अपने कंठ में बसाती। मगर सत्य तो यह है कि उर्दू के सिरजनहार उसे हिन्दी से या लोक-भाषाओं से या संस्कृत से मेल-मिलाप नहीं करने देना चाहते थे और अपनी इस नाजनीन को केवल अपने ही हृदय में कैद किये रखकर उसकी अदाओं पर निसार होना जानते थे।

卐'सरसुती सरन' जी देखें कि पानी कहाँ मरता है? जनाब, हिन्दी के हिमायती नहीं, उर्दू के हिमायती जातिवाद के दोषी थे। काश, उर्दू ने महलों से निकलकर, अदालत से पिण्ड छुड़ाकर, भारतीयजनों के जीवन में प्रवेश किया होता और उसके आदर्श और यथार्थ को ग्रहण किया होता। उर्दू ने जो दुराव दिखाया, वह उसी को खा गया।

हाली और आजाद

यह सच है कि मौलाना हाली और मौलाना मुहम्मद हुसेन आजाद ने बिगुल बजाया कि उर्दू अपनी पुरानी नफ़ासत और शक्ल-सूरत बदले और नये क्षेत्रों में प्रवेश करे। दाग ने तो सीधी-सादी जबान को ही अपने कलाम का माध्यम बनाया। इस सबका परिणाम कुछ अच्छा ही हुआ कि उर्दू जीने लग गयी। यह न होता तो शायद वह मर

ही गयी होती। मगर हम यह नहीं मानते कि उर्दू ने अब अपनी शक्ल-सूरत बदल दी है और पुरानी नफ़ासत छोड़ दी है। कुछ परिवर्तन जरूर हुआ है, मगर वह मौलिक नहीं है, केवल दिखौ है और इधर तो अब फिर उर्दू ने अपने पुराने ढर्रे पर चलने की कसम खा ली है। ऐसा मालूम होता है जैसे वह हिन्दी की सौत होकर जीना चाहती है।

उर्दू का मौजूदा साहित्य देख जाइए, कहीं भी हिन्दी के नजदीक नहीं आयी। उर्दू का साहित्य हिन्दी लिपि में जरूर छपने लगा है। इसमें उसकी बिक्री भी अधिक हुई है। पर सबसे बड़ी बात अब भी यह है कि उर्दू ने हिन्दी की धज नहीं अपनायी। वह अपनाये भी तो कैसे? वह काम बरसों का है। यह काम तभी सम्भव है, जब उर्दू वहाँ जाये और रहे, जहाँ हिन्दी रहती है। हिन्दी में रुचि रही है और है कि वह उर्दू के साहित्य को हिन्दी में लाये और प्रस्तुत करे। मगर उर्दू ने इस दिशा में बड़ी कोताही दिखायी है।

इसपर भी जनाब 卐'सरसुती सरन' को गर्व है कि आज भी उर्दू हिन्दी से कई गुना आगे है और अच्छी है। वह कहते हैं कि अजी जनाब, उर्दू के सामने हिन्दी बच्ची है। उर्दू तो अपनी अभिव्यक्ति में साफ-सुथरी और सरल है। साथ ही बोधगम्य भी बहुत है। हिन्दी उर्दू को नहीं पा सकी।

हम दावे के साथ इस गर्व को गरजकर खंडित करते हैं। कोई भी भाषा जीवन से दूर रहकर, सौदामिनी की तरह चमककर, मनुष्यों की भाषा नहीं हो सकती; भले ही वह कवियों की भाषा हो जाये और कुछेक उसे सँवारते-सजाते रहें। भाषा का बल और पौरुष देखा जाता है। उसकी गम्भीरता की थाह ली जाती है। उसकी हृदयस्पर्शी मार्मिकता आँकी जाती है। यह देखा जाता है कि वह कहाँ तक सामाजिक, राजनीतिक और आत्मिक चेतना को व्यक्त करती है।

उर्दू में जबान की लपालप जरूर है; चाशनी है; इशारेबाजी है; गुफ्तगू का अंदाज है और नरगिसी आँखों, शराब और नकाब के भीतर का शोलयें शबाब है। मगर उसमें जीवन को पूरा-पूरा समेटने की ताब नहीं है। उसकी गजलें नाजुक अँगुलियों की तरह कभी-कभी दिख जाती हैं और जरा-सा सहलाकर, गुदगुदाकर फिर लोप हो जाती हैं। हिन्दी का मुकाबला उर्दू क्या करेगी। अपने अन्दर तुलसी का रामायण तो समाये। सूर का साहित्य तो आत्मसात करे। मीरा की भक्ति और रागिनी तो अपनाये। समस्त सन्त, साहित्य हिन्दी का मूलाधार है। वही भारतीय जीवन का मूलाधार है।

उर्दू के पास न साहित्य का मूलाधार है, न भारतीय जीवन का मूलाधार है। हमारा आज का जीवन जिस सांस्कृतिक पैटर्न पर बना है, वह उर्दू के पास नहीं है। हमारी राय में तो उर्दू कालांतर में अपने-आपको जीवित नहीं रख सकेगी। यह नहीं है कि उसे कोई मार डालेगा। बात असल में यह है कि वह अपने-आप अपना अन्त-काल बुला रही है। कहीं कमजोर नाजुक लयों के बल पर—चाटुकारी के बल पर, निगाहे नाज़ के बल पर और तड़क-भड़क के बल पर कोई भाषा अधिक दिन जी सकी है? नहीं।

हम अक्सर सुनते आये हैं कि हिन्दी वाले जातिवादी हैं और उर्दू वाले इस अवगुण से बरी हैं। हम यही बात आज फिर 'सरसुती सरन' से सुन रहे हैं। उन्हें 卐'छायावाद' की कविता में इसी जातिवाद के दर्शन मिले हैं। वह इस 卐'वाद' की भाषा से विकल और विह्वल हो उठे हैं। हम कह देना चाहते हैं, मूसर जैसा हाथ उठाकर, कि यह सब बेकार की बकवास है। छायावाद में जो जातिवाद के दर्शन देखता है, वह खुद जातिवादी है।

छायावाद भारतीय सांस्कृतिक चेतना का एक देशव्यापी स्फुरण था, जो भारतीय भाषाओं के मर्मों से भरपूर था। संस्कृत भारतीय चिंतन और मनोवेगों की भाषा रह चुकी थी। उसके भण्डार से छायावाद ने बहुत कुछ लिया, ऐसा करना युग माँग थी। जो कवि छायावाद के अग्रदूत थे, वे सभी संस्कृत के पंडित और उसकी परम्परा से परिचित थे। साथ में वह अंग्रेजी भी जानते थे। इसीलिए छायावाद में बंगाली की झलक, अंग्रेजी की झलक, संस्कृत की झलक और कहीं-कहीं फारसी की झलक मिलती है। इसमें हिन्दू जातिवाद कहाँ से घुस जाता है? शब्द माध्यम होते हैं भावों और विचारों को व्यक्त करने के। वह हिन्दू या मुसलमानी नहीं होते। मालूम होता है कि हमारे 卐'साढ़े-साती' सरन जी ने संस्कृत के शब्दों को हिन्दी के शब्द मान लिया है। तभी वह बौखला गये हैं। सम्प्रदायवाद का भूत हमारे 卐'साढ़े-साती' सरन जी पर बुरी तरह सवार है, जो उन्हें सही दिमाग नहीं रहने देता। अच्छा होता कि वह किसी ओझा के पास जाते और अपने सिर का भूत भगवाते। अंग्रेजी में लेख लिखकर वह कोई बड़ा जग नहीं जीत सके हैं; महज अपनी बौखलायी अक्ल का 'भुरता' ही पेश कर सके हैं।

एक रघुपति सहाय 'फिराक' हैं न, सरसुती सरन उन्हीं के उर्दू दिमागी भाई हैं। हिन्दी ने पिछले डेढ़ सौ साल में आश्चर्यजनक उन्नति की है, वह आप मानते हैं। लेकिन आप बड़ी चतुरता से यहीं पर एक झटका हिन्दी को देते हैं और कहते हैं कि यह कहना मूर्खता होगी कि हिन्दी का यह विकास 'हिन्दू जनसमूह' के भावों, विचारों और रहन-सहन के तौर-तरीके को व्यक्त नहीं करता। यह है 'नकाबपोश' सम्प्रदायवाद, जो बार-बार 'हिन्दू-हिन्दू' की रट लगाकर कान खाये जा रहा है। हिन्दी तो सबके जीवन को व्यक्त करने में लगी ही थी।

आगे चलिए। नकाबपोश सरन महोदय खुले तौर से उबल पड़े हैं और चिल्ला उठे हैं कि इस सबके पीछे धार्मिक और साम्प्रदायिक तत्त्वों की कारगुजारी को न मानना केवल बनावटीपन होगा। धर्म और सम्प्रदाय पर हिन्दी का महल खड़ा नहीं हुआ जनाब! वह इनसे नीचे की नींव से ऊपर उठा है। हिन्दी ने अपनी नींव भारतीय जीवन में बनायी है। भारतीय जीवन धर्म और सम्प्रदाय पर आधारित नहीं है। वह यहाँ की उद्यमी जनता पर विकसित हुआ है। वही जीवन हिन्दी में प्रवाहित हुआ है। कृष्ण और राम किसी धर्म के प्रवर्त्तक नहीं थे—न वे साम्प्रदायिक थे। वे जीवन की बहुमुखी धाराओं के स्रोत थे।

भारतीय जीवन उनसे बल पाकर कर्म और क्रिया की ओर अग्रसर हुआ है। फिर क्योंकर शोर मचाया जा रहा है कि हिन्दी की आधारभूमि साम्प्रदायिक और धार्मिक है। हिन्दी कभी भी असहिष्णु और साम्प्रदायिक नहीं रही। उसका सांस्कृतिक धरातल पूर्णरूपेण भारतीय रहा है। चाहिए यह कि सरसुती सरन अपने भीतर से साम्प्रदायिकता निकाल दें और फिर हिन्दी की उत्पत्ति और उसके विकास-क्रम पर विचार करें।

और आगे चलिए। अब नकाबपोश सरन की पूरी नकाब उतारिए। यह देखिए कि आप निकल आये अपने असली स्वरूप में। रहते शहर में हैं। हिन्दी की जमीन में टहले तक नहीं। कपड़ों में किसानों के घर की गंध तक नहीं है। बालों में कहीं भी उनके घरों का धुँआ तक नहीं उलझा। मजदूर? अरे इससे तो आप, दूर से, जब वह शहर में जुलूस में चला है अपनी नजर से कई बार मिल चुके हैं। आप उसके दिल और दिमाग के अन्दर कभी गये नहीं। उसे आपने शहरी सभ्यता का तलछट समझा है। इसपर भी आप हैं कि हिन्दी को सीख देने पर उतर आये हैं, हजारों सीढ़ियों नीचे। कहते हैं कि हिन्दी को संस्कृत का सहारा त्याग देना चाहिए, क्योंकि उसके शब्द कानों में खटकते हैं और तकलीफ़ होती है। बड़े नाजुक कान है! पता नहीं कि कान हैं कि गुलाब की पंखुड़ियाँ?

अच्छा तो अब आपकी एक सीख भी सुन लीजिए। कहते हैं कि हिन्दी वालों को चाहिए कि वह जन-समूह की भाषा लिखें। उन्हें चाहिए कि वह प्रचलित मुहावरे और कहावतें उर्दू से लें। उर्दू के खजाने में वह बहुतायत से हैं। हिन्दी वाले इस सीख पर पहले ही से प्रयत्न करते चले आ रहे हैं। आपने कोई नयी बात नहीं कही। ज्यों-ज्यों हिन्दी अपने क्षेत्र के जन-समूह में अधिक-से-अधिक पैबश्त होती चली जायेगी, त्यों-त्यों उसको समूह का बल और जीवन प्राप्त होता चला जायेगा। आज के समय वह जिन कठिन शब्दों को प्रयुक्त कर रही है, वे वहाँ पहुँचकर मौखिक उच्चारण से घिस-घिसा कर अपना असली टिकाऊ रूप पा लेंगे और हिन्दी को अपना निखार मिल जायेगा। यदि यह न किया जाकर हिन्दी में केवल गाँव के ही शब्द लाये गये, तो वह भी ठूसम-ठूस होगी और परिणाम कुछ अच्छा न होगा।

राष्ट्रभाषा ग्राम्यभाषा से अलग है। राष्ट्रभाषा में ग्राम्यभाषा के विशिष्ट प्रयोग मिलेंगे, मगर पूरी-की-पूरी ग्राम्यभाषा राष्ट्रभाषा में नहीं समायी जा सकती। इसके अलावा अब तो नगर और गाँव का अन्तर भी कम-से-कम होता जा रहा है। गाँव के लोग अपनी जबान छोड़कर शहर की जबान पकड़ने लगे हैं। हमने खूब देखा है कि गाँव के लोग अब जब अपने सगे-सम्बन्धियों में भी बोलते हैं, तो हमारी शहरी हिन्दी का छौंक लगाते हैं और अपने को सभ्य, शिष्ट और कुछ ऊँचा साबित करते हैं। गाँव वाला जब अदालत में गवाही देता है, तब खड़ीबोली की टाँग तोड़ता है।

हम गाँव की बोली अपनाने के विरुद्ध नहीं हैं। वह तो हमारी हिन्दी में बरसों से अपनायी जा रही है। मगर जब गाँव की बोली स्वयं ही विघटित हो रही हो, तो उसे आधार बनाया जाय, यह कहाँ तक ठीक होगा?

हम फिर बता देना चाहते हैं कि हिन्दी वही मुहावरे और कहावतें अपना रही है और आइन्दा भी अपनायेगी, जो जनता की वाणी में हमारे भारतीय जीवन को व्यक्त करने में सक्षम रहे हैं और आइन्दा भी सक्षम होंगे। हिन्दी इस प्रयास में नहीं है और न इसे अच्छा समझती है कि वह कब्रों से गढ़ी कहावतें निकाले और अपने यहाँ उनकी ठठरियाँ खड़ी करे। यह गलत होगा। जानदार चीज तो अपने-आप हिन्दी में घुस आती है। हम कहीं से भी सजीव मुहावरे लेने के पक्ष में हैं, मगर हम यह नहीं मानते कि हिन्दी के पास उसके मुहावरे नहीं हैं। वह भी जनमगाते मुहावरों और हजारों कहावतों की निधि की धनी है।

❑

शमशेर की 'कुछ कविताएँ'

शमशेर की 'कुछ कविताएँ' पुस्तक में 36 कविताएँ हैं। यह संग्रह कवि नरेन्द्र को समर्पित किया गया है। इसकी पहली कविता ''निराला के प्रति'' है और इसकी अन्तिम कविता ''अज्ञेय से'' है। शमशेर ने अपने नोट में हजरत फ़िराक़ गोरखपुरी के कलाम का कुछ असर अपने मन पर होना स्वीकार किया है और वह असर उनकी कविता ''वह सलोना जिस्म'' में व्यक्त हुआ है। इस संग्रह में सन् 39 से लेकर 58 तक की कविताओं का संकलन किया गया है। कवि के शब्दों में सुधार और सँवार के लिए श्री जगत् शंखधर की सुरुचि का संयोग बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है।

इन कविताओं में व्यक्त हुई अनुभूतियाँ कवि के उस मानस-स्तर की हैं, जिस स्तर पर कवि ने उन्हें भोगा है। दृश्य-जगत् का सौन्दर्य और उसका सुख-दु:ख अपने तात्कालिक निसर्ग रूप में इन कविताओं में व्यक्त नहीं हुआ, वरन् उनका वह रूप व्यक्त हुआ है, जो अधिक काल तक मानसिक धरातल पर सूक्ष्म सम्वेदनाओं से लयबद्ध होता रहा है और अनेकानेक मूर्तियों का आकार ग्रहण करता रहा है। ''एक नीला आईना बेठोस'' में चाँदनी के अन्दर चलने की अनुभूति को कवि ने ग्रहण किया है और चाँदनी में बहुत से तारों के घुल जाने और स्वयं के घुल जाने की व्यंजना की है। ''पूर्णिमा का चाँद'' में बादलों के झिलमिलाते स्वप्न जैसे पाँव का दृश्य उपस्थित किया गया है। ''रेडियो पर एक योरोपीय संगीत सुनकर'' कवि ने आवाज को बर्फ़ की सतहों में तीर-सी पैरती हुई पाया है और तारों की टूटती हुई गर्म-गर्म शमशीर-सी देखा है। इस कविता में कवि को जल का बोध पर्दों के रूप में हुआ है और आ रही आवाज़ झिलमिल-झिलमिल कमलदल बन गयी है। इस आवाज़ के गले में, सीने में, बहुत काली सुरमई पलकों में, साँसों में, लहरीली अलकों में रात की हँसी प्रकट हुई है। ''एक पीली शाम'', में पतझर का अटका हुआ पत्ता दृष्टिगोचर हुआ है और सान्ध्य तारक एक अटका हुआ आँसू का बिम्ब बन गया है। ''छिप गया वह मुख'' में समुद्र के किनारे की लहरों का झाग-भरे तट पर आना और उनका मोती बिखेरकर चूर-चूर हो जाना अनुभूति-भरे बिम्बों के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। ''मौन'' अक्षयवट हो गया है और ''क्रांति'' एक बृहद् कुम्भ हो गया है। सुबह के समय का वर्णन कवि ने अपने अनोखे ढंग से इसप्रकार किया है कि जैसे कोई सिकुड़ा हुआ बैठा पत्थर सजग होकर आपसे आप पसरने लगे। दिन किशमिशी, रेशमी और गोरा हो गया है, जो अपनी पंखुड़ियों के तले मोतियों की आब छिपाये है। रात का गहरा सलोना साँवलापन गीली मुलायम लटें बन गया है, जिसमें सरकते चले जाते बादलों के उभार से स्तनों के उभार साकार हो गये हैं। आसमान एक इन्द्रधनुषी ताल बन गया है और कवि उस ताल की

एक मछली बन गया है। वसंत के आगमन ही सुखद अनुभूति को शृंगार से बजती हुई रागिनियों के आने के रूप में ग्रहण किया है, जिसके यौवन पर सौ चाँद मसले गये हैं। सबेरे पहर प्रेमिका को अपने प्रेमी से अलग होकर जाना भी शब्दों में हर पंखुड़ी पर सुबह की चोट के समान अभिव्यक्त हुआ है। प्रेमिका के शरीर को स्वप्न में पेंग लेते हुए गीत, नींद और रंगीन शाम के बहते हुए दरिया बिम्बों से व्यक्त किया गया है और उसकी अधखुली अँगड़ाइयों को कमल के लिपटे हुए उन दलों के समान निरूपित किया गया है, जो गंध में बेहोश भौंरों को कसे हैं।

साधारणतया प्रकाशित होनेवाली कविताओं से नितान्त असाधारण यह कविताएँ हैं। इन कविताओं के बिम्ब अपना पूरा प्रस्फुटन कर ही नहीं पाते और वैसे वे दूसरे बिम्बों से गुम्फित हो जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि पाठक के हृदय में सम्पूर्ण रसोद्रेक नहीं हो पाता और उस परिवेश की अनुभूतियाँ हलके-हलके स्वभाव से स्पर्श करने लगती हैं, जैसे कोई पत्तियाँ किसी के शरीर को छूयें। इन कविताओं में गहराई है, किन्तु वह गहराई कष्ट-साध्य है और पाठक को सहज ही आत्मसात नहीं कर पाती। यह अवश्य है कि शमशेर अपनी एकांतिक अनुभूतियों को अपने तरीके से ही इन कविताओं में कभी लय, कभी बिम्ब-विधान, कभी क्षणिक प्रकाश के स्फुरण और कभी इन सब के एकसाथ संयोजन से व्यक्त कर सकने में सफल हुए हैं, मगर उनका यह शिल्प और प्रयास ऐसा नहीं है, जो काव्य का सौन्दर्य सहज ही कचनार के फूले पेड़ की तरह अथवा गुलमोहर के पेड़ की तरह बोधगम्य हो सके। इन कविताओं में दुरूहता भी मिलती है और उस दुरूहता का कारण शमशेर की बिम्ब-विधान योजना है। लय का स्थान-स्थान पर टूट-टूटकर अपनी नयी-नयी पंक्तियाँ बनाकर इन कविताओं में चलना भी कुछ अंश तक इस दुरूहता का कारण बन जाता है। इन कविताओं को किसी भी प्रकार से प्रयोगवादी कविताओं की संज्ञा नहीं दी जा सकती और न इन्हें ''नयी कविता'' की श्रेणी में रक्खा जा सकता है। इन कविताओं के तत्त्व मूलत: मानसिक अनुभूतियों के तत्त्व हैं, जो कवि की चेतना के मूल-वृक्ष से अंग और अवयव पाकर फल-फूल और पत्तियों के रूप में निकलते हैं। इसीलिए वह देन भिन्न भी होती है। शमशेर का उद्देश्य प्रयोग नहीं है और न रहा है और न रहेगा। वह अपनी चेतना को और अपनी अनुभूतियों को अपने अनुभूत बिम्बों के माध्यम से तदनुरूप लय और निर्वाह से कविताओं में रूपायित करते हैं। इन कविताओं को साधारणीकरण की कसौटी पर कसना और तब उनके सौन्दर्य के बोध की परख करना नितांत असंगत होगा। इसप्रकार की कविताओं का मूल्यांकन केवल शमशेर के दृष्टिकोण से किया जाना चाहिए, अन्यथा इन कविताओं का मर्म नहीं पहचाना जा सकता। इन कविताओं में देश और काल की अनुभूतियाँ भी व्यक्त हुई हैं, लेकिन उनसे अधिक शमशेर की अपनी निजी अनुभूतियाँ व्यक्त हुई हैं, जिसके फलस्वरूप इन कविताओं की अनुभूतियों से देश और काल की अनुभूतियाँ दब गयी हैं और वे स्वयं कविताओं का विषय नहीं बन सकीं। ❑

अज्ञेय की पाँच कविताएँ

इस संकलन की पहली कविता ''विश्वास'' है। इसमें कवि ने अपने आपको ''उद्धत विद्रोही'', ''निर्मोही'', ''आरोही'', और ''बटोही'' कहकर संबोधित किया है। इन अर्थपूर्ण शब्दों का प्रयोग तुक मिलाने के लिए किया गया है, ऐसा तो स्पष्ट ही है। किन्तु इनका प्रयोग तुकों से कुछ अधिक के लिए भी किया गया है। वह कुछ अधिक क्या है?—यह भी इसी कविता में है। कवि यह मानता है कि वह जग में घिरा हुआ है। परन्तु वह अपने-आप को जग से अलग घोषित करता है। और उसके प्रति अपना निर्मोह व्यक्त करता है। वह जीवन को जीवन के रूप में नहीं देखता। वह उसे एक ऐसे सागर के रूप में देखता है, जो हहर-हहर कर लीलने के लिए आता है। और वह है कि उसकी लहरों पर चढ़कर बढ़ता जाता है आगे, और आगे, और आगे। बात बड़े मार्के की है। जैसे बदमाश घोड़ों पर केवल ''होशियार'' घुड़सवार ही सवारी कर सकता है। वैसे ही कुशल कवि भी आततायी तरंगों पर सवारी कर सकता है। कवि ने इस सवारी करने की अपनी सामर्थ्य से ही अपनी परम शक्ति का उद्‌घाटन किया है। क्या बात है? जीवन के भीतर न पैठने में ही और उससे अलग रहने में ही अपनी बहादुरी समझी गयी है। तैरकर उस पार पहुँच जाने की बात भी यदि कवि ने यहाँ पर कह दी होती, तो भी उसकी ताब और शक्ति का कुछ पता लग जाता, मगर उसने अपने-आपको आरोही कहा है। इसप्रकार के कथ्य से यह मालूम होता है कि कवि के पास स्पष्ट विचार नहीं हैं। और न वह भावों का अधिकारी है और न वह यह जानता है कि भाव किसप्रकार और कैसे सार्थक और सफल ढंग से व्यक्त किये जाते हैं? वह अपने को किसी योगी से कम नहीं समझता। उसका इंद्रिय-बोध इतना जड़ हो गया है कि वह संसार का कोलाहल भी नहीं सुन पाता और अगर सुनता भी है, तो वह उससे विकल नहीं होता। वह इस बात को डंके की चोट पर कहता है। क्या यह उसकी पथरायी हुई मानवता का परिचायक नहीं है। क्या वह उसकी बुद्धिहीनता का द्योतक नहीं है? है और फिर है। लेकिन इस बहादुरी का ढोल भी क्यों बजाया गया है? इसके पीछे भी एक राज है। कवि किसी को निरन्तर देखते रहने का अभ्यस्त है। वह निश्चय ही कोई व्यक्ति है। उस व्यक्ति को कवि ने खुले शब्दों में संबोधित नहीं किया। ''आलोक'' नाम देकर कवि ने उसे गोपनीय रक्खा है। यदि इस गोपनीयता को आध्यात्मिक समझा जाये, तो कुछ भी बुरा न होगा। संसार से तो कवि को मोह है ही नहीं। तब निश्चय ही वह व्यक्ति जिसे कवि देखते रहने का अधिकारी है, संसार का न होगा—किसी ''आध्यात्म लोक'' का होगा। यह है नया रहस्यवाद, जो प्रयोगवाद का जामा पहनकर अवतरित हुआ है। यह मानवीय प्रेम और सौन्दर्य की उपेक्षा करने में ही

और उसे गोपनीय रखने में ही अपनी महत्ता समझता है। ऐसा तो कोई छलिया ही लिख सकता है। इस कवि से ऐसा लिखे जाने की आशा न थी, क्योंकि वह विवेकशील और बुद्धिमान है। छायावाद में तो खुले तौर से ''आँखों का आँखों से सम्भाषण'' कराया गया है और वह इस आध्यात्मिक आँखों के लड़ाने से कहीं अधिक शिष्ट, संयत और स्वस्थ था। समझ में नहीं आता कि आलोक का मानवीय रूप क्या हो सकता है और कोई कैसे ''आलोक'' को प्रेमिका के रूप में देख सकता है, अथवा प्रेमी के रूप में देख सकता है, अथवा इष्टदेव के रूप में देख सकता। फिर यह कैसा ''आलोक'' है, जिसे कवि अपना पथदर्शक कहता है और जिसपर वह इतना विश्वास रखता है कि उसके कारण ही वह अपना मार्ग न खो पायेगा। इस ''आलोक'' का कोई भी रूप आँखों के सामने नहीं आता। निर्गुण ब्रह्म-सा यह आलोक आँखों और कल्पना से ओझल ही रहता है। वैसे तो पहले समय के अध्यात्मवादी कुछ ऐसी ही बातें किया करते थे और उसी के कारण वह बड़े समझे जाते थे; मगर हाल के जमाने में ऐसे अध्यात्मवादियों के लिए कोई ठौर नहीं है और न वे पूजे ही जा सकते हैं। कवि का यह ''आलोक'' महान तो है ही, लेकिन उसके साथ-साथ कवि भी कम महान् नहीं है। उसने अपने मार्ग को एक सँकरा मार्ग कहा है और अपने-आपको उसका अकेला बटोही कहा है। तात्पर्य यह है कि वह मार्ग किसी ने नहीं पाया है। वह कवि का ही अनोखा मार्ग है। उसपर वह ही चल सका है और कोई नहीं चल सका। तभी तो वह अकेला है। इस कविता में एक छोटे-से भाव को इतना उलझाकर कहा गया है कि मूल भाव लोप हो गया और वाक्-जाल मात्र रह गया है। कवि कहता है कि वह अपने प्रिय को अनमिष देखता रहता है और इसी से वह संसार और सबकुछ की रत्ती भर भी परवाह नहीं करता। होना चाहिए था कि कवि दूसरों को भी, अपने शब्दों के द्वारा, अपने प्रिय को दिखलाता और उसके सौन्दर्य पर न्यौछावर होने देता। यह काम न करके कवि ने एक बड़ा भारी विद्रोह खड़ा कर दिया है और उस विद्रोह का स्वयं ही नेता बन बैठा है। भोग की यह कविता योग में परिणत होकर कवि को महत्त्व नहीं दे सकी है। यह न विद्रोह की कविता है, न प्रकाश की। यह तो एकमात्र जड़त्व की रचना है, जिसमें न स्पन्दन है—न सौन्दर्य, न शक्ति है, न प्रेम।

इस संकलन की दूसरी कविता ''हारिल'' है। इसमें कवि ने अपने आपको हारिल कहा है। वह हारिल ऐसा है जो दृढ़ पैनों के थपेड़े मारकर अखिल व्योम को वश में करता है और ''प्रियतम'' अर्थात ''शुभे'' को देख सकने की आशा से अपने प्राणों में बल भरता है। वह थकता भी है और विकल भी होता है, वह दरस-प्यास की पीड़ा से पीड़ित भी है। मगर वह अपनी ''शुभे' को देखने के लिए इतना लालायित है कि वह उसी लालसा से अनुप्राणित रहता है। फिर भी वह न तो चातक की तरह तापस है, न केकी की तरह बादलों को पुकारने वाला है। वह एक दूसरे ही स्वभाव का जीव है। उसे न केकी की पुकार सह्य है—न चातक की तपस्या। ''वह पौरुष का मदमाता है।'' वह सबेरा होते ही जड़ धरती को ठुकराकर उड़ने लगता है। वह इस धर्म को नहीं

मानता कि बैठे-बैठे जिया करो, प्रिय को पुकारा करो, और गाया करो। वह अपने कुल का कर्म बैठे रहने में नहीं समझता। वह कहता है कि वह प्रिय की अनुकम्पा पाने का अभिलाषी नहीं है। वह तो अपने प्रिय को अपनी ही बराबरी का मानता है। वह अपनी ''समकक्षी'' ''कंचन पक्षी'' के साथ-साथ उड़ने की कामना करता है। जब शाम होती है, तब चातक और केकी निराश होकर सो जाते हैं। मगर एक वह है हारिल कि उड़ता-उड़ता अन्त में आसमान में खो जाता है। संसार में कोई प्यासा ही मर जाता है; कोई प्यासा ही जी लेता है; और कोई जीवन और मरण से परे कड़ुवा प्रत्यय पी लेता है। यह स्वभाव इस हारिल का नहीं है। वह आसमान से भूमि पर उतरने का विश्वासी नहीं है। वह तो सूने में खो जाने में ही और थकने पर भी न रोने में ही अपने कुल का धर्म समझता है। वह अपने प्रिय से एकमात्र यह दिलासा दिये जाने पर जीने का कायल है कि जिस शून्य में वह खो गया है, उस शून्य में उसका वह प्रिय है। यही कारण है कि कवि ने इस कविता में दुनिया को सूखी और रसहीन कहा है और अपने प्रिय की याद से ही अपने हृदय को सुख से प्लावित होना भी कहा है।

पहली कविता में जिस विद्रोह का उल्लेख किया गया है, वह आकाश में हारिल का अपने पंख मारना है और उसी में उसका खो जाना है। दूसरी कविता में पहली कविता के कथ्य को अधिक विस्तार से और स्पष्ट ढंग से कहा गया है। उस कथ्य के समर्थन में चातक और केकी के प्रेम को केवल बैठे-ठाले का प्रेम कहा गया है। उनके प्रेम की तुलना में हारिल के पंख मारने को और उसके व्योम में खो जाने को बहुत महत्त्व दिया है। यदि विद्रोह का रूप यही है कि शून्य में पर फड़फड़ाये जायें, तब तो प्रत्येक नभ-चारी सबसे बड़ा विद्रोही कहलाने का अधिकारी है। ऐसे महान् विद्रोह से क्या कुछ भी हुआ है और हो सकेगा? कदापि नहीं। वास्तव में यह कुछ उसी प्रकार का कथन है, जिसप्रकार का कथन व्यभिचारी लोग प्रेमिकाओं को फुसलाने के लिए किया करते हैं। कथनमात्र सुनकर ही वे अपने प्रेमियों के प्रति सहृदय हो जाती हैं। समझ में नहीं आता कि एक मनुष्य अपना पौरुष इसप्रकार के कथन द्वारा कैसे सिद्ध कर सकता है यह कथन तो केवल इतना प्रमाणित करता है कि ऐसा कहनेवाला व्यक्ति अपनी प्रेमिका के किसी काम का नहीं हो सकता। न वह संसार में रह सकता है न वह यहाँ के सुख-दु:ख के योग्य है। न वह अपनी प्रेमिका को यहाँ रख सकता है और न उसे सुख दे सकने की कामना ही कर सकता है। तब ऐसे उद्धत विद्रोही को लेकर भला बेचारी प्रेमिका कितने दिन इस कठिन संसार में जी सकेगी। यह दूसरी कविता भी पहली कविता के समान प्रलाप मात्र है और इसमें भी कोई मानवीय गुणों का समावेश नहीं है। यह एक अत्यन्त असफल प्रयोग है। इसकी तन्यमता और दृढ़ता एक ऐसे विचारहीन अविवेकी व्यक्ति की तन्मयता और दृढ़ता है, जो न तो अपने मानव-कुल का धर्म और कर्म जानता है, न पक्षियों के कुल का।

इस संकलन की तीसरी कविता है ''उड़ चल हारिल''। इसमें कवि ने अपने हारिल से, एक ओछा अकेला तिनका पंजे में दबाकर सबेरे-सबेरे उड़ चलने का आग्रह

किया है कि वह, दिग्मंडल चीरता हुआ अपने पंखों की चोटों से नभ में एक हलचल मचा दे। इस आग्रह के समर्थन में कवि ने तिनके को एक अमर रचना का साधन बताया है और विधना के प्राणों का स्पंदन भी घोषित किया है। हारिल को उसने यह ज्ञान भी दिया है कि मिट्टी अवश्य ही यथार्थ है, किन्तु जीवन केवल मिट्टी नहीं है। साथ ही उसने यह प्रबोधन भी हारिल को दिया है कि वह 'ऊर्ध्वंग ज्वाल' का ''दुर्निवार हरकारा'' है। और तिनका ही उसका ''दृढ़ ध्वजदंड'' है और उसके सूने पथ का एकमात्र सहारा है। सीख भी उसने यह दी है कि मिट्टी से इस छीने हुए तिनके को तज देना हारिल का धर्म नहीं है और उस जैसे कर्मवीर के लिए यह शोभा नहीं देता कि वह जीवन के साधन की अवहेलना करे। अन्त में उसने तिनके को पथ की धूल और हारिल को ''अनन्त की पावन धूल'' कहा है। कवि ने, इस सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण, यह बात भी हारिल से बताया है कि नभ में उड़कर ही यह ''क्षण में बद्ध अमरता'' छू पाता है। पिछली दो कविताओं में जीवन की पूर्ण उपेक्षा का भाव ही व्यक्त हुआ है। किन्तु इस कविता में सृजन की चाह का उल्लेख किया गया है और कर्मवरी को जीवन के साधन की अवहेलना न करने का विचार प्रतिपादित किया गया है। यह दोनों ही तत्त्व जन-जीवन से अनायास ही इस कविता में आकर व्याप गये हैं। इसी से यह कविता हृदय को छू लेती है। फिर भी, जिस विषय-वस्तु और भावना के बीच यह तत्त्व उभरे हैं, उनका स्वभाव रहस्यवादी है। स्पष्ट मालूम होता है कि कवि अपने-आप को जीवन और उसके यथार्थ से बचाकर नहीं रख सका और उस जैसा नितान्त वैयक्तिक प्राणी भी अपने रहस्योन्मुख स्वभाव को सुरक्षित रख सकने में सक्षम नहीं हुआ।

इस संकलन की चौथी कविता है ''मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ''। यह रचना पिछली तीनों रचनाओं की पूरक है। इसमें वह सब कह दिया गया है, जो उनमें कहने से रह गया था। इसमें प्रिय के विमुख होने की बात कही गयी है। यह कुछ वैसा ही कहना है, जैसे विरही रहस्यवादी कवि अपने प्रियतम से कहा करते थे। उनका देवता भी तो अपने उपासक से उदासीन ही रहा करता था। मगर यहाँ एक विशेषता यह है कि कवि अपने प्रिय से उन्मुख रहने के लिए भी नहीं कहता। उसने अपनी साधना को ''सहसनपना'' बताया है। यह ''विमुख-उन्मुख से परे'' तत्त्व की तल्लीनता का विश्वासी है। तभी तो वह न मृत्यु से डरता है, न क्षुद्रता के शाप से, और न ''क्षीण-पुण्या'' पृथ्वी के सन्तान से। वह ऐसा पुरुष है, जिसे विधाता की भुजाएँ भी नाप नहीं सकती हैं। उसे रात में अँधेरे से कोई शिकायत नहीं है। वह तो अपने हृदय में चन्द्रमा को रखता है। वह बड़ी चतुराई से कहता है कि वह वज्र भी है, ज्वलित भी है, बेरोक नहीं है और प्रस्थान भी है। उसकी अवस्था ऐसी हो गयी है कि संसार में जब कोई शब्द नहीं होता, तब भी उसके कानों में गान गूँजते रहते हैं और जब अंधकार-ही-अंधकार फैला रहता है, तब भी उसके प्राण अंगारे की तरह दहकते रहते हैं। न उसको अपने प्रिय का मौन सताता है, न एकान्त, और न उसका विच्छेद। वह ऐसे प्यार के गान

की तरह है, जो विवश होकर झंकार करने लगता है। उसे संसार का रूप और कुरूप दोनों ही विचलित नहीं करते, वह अपने-आप को अद्वैत के स्थान में पाता है। वह ऐसी चरम गति को पा गया है कि उसे अस्तित्त्व की वेदना नहीं सताती। वह जन्म-मरण, उत्थान-पतन और दु:ख-सुख की प्रक्रियाओं से ऊपर उठ चुका है। उसके व्यक्तित्व में सम्पूर्ण संघर्ष समन्वय की दशा में पहुँच चुके हैं। वह कहता है कि अपने प्रिय को अनिमिष देखकर ही वह चिर-ज्ञान में लीन हो गया है। यह संसार तो मुग्ध नदी की तरह बह रहा है। कवि अपने प्रिय के ध्यान में लीन है। इस कविता को किस तरफ से प्रयोगावादी कहा जाये, समझ में नहीं आता। यह तो घोर सूफ़ीवाद, रहस्यवाद, अद्वैतवाद और योगवाद ही है। भला क्या यह सम्भव है कि अपने प्रिय को देख लेने से ही किसी में अमर ज्ञान आ जायेगा? नहीं। यह पूरी कविता एक ऐसे व्यक्ति की कविता है जो कर्महीन है, ज्ञानहीन है, शक्तिहीन है और केवल मोहलीन है। फिर ठाट तो देखिये कि बज्र बनने का दम्भ भी ऊपर उभर आया है।

लेकिन ''द्वितीया'' इन चारों कविताओं से अच्छी है। अच्छी इसलिए है कि इसमें दुर्बल मनोभावों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। इसमें न गोपन करने की रहस्यवादी प्रवृत्ति है, न अद्वैतवादी अभिरुचि है, और न हृदय को छोड़कर नभ की ओर उड़ने की लालसा है। ऐसा लगता है कि इसमें ''अज्ञेय'' ज्ञेय हो गये हैं। कवि ने ''किसी गत्ता के आसन'' पर ''नवगत्ता'' को बरबस बैठा लिया है। उसे ऐसा इसलिए करना पड़ा है कि उसने अपने ''धन'' के छिन जाने पर दूसरे के ''धन'' का गौरव जाना है। ''नवगत्ता'' ही ''द्वितीया'' का सार्थक शीर्षक लेकर व्यक्त हुई है। ''द्वितीया'' के सामने कवि अपना हृदय खोलता है। यह कहता है कि उसके हृदय में अब भी ''गत्ता'' की स्मृति बरकरार है। प्यार के जितने भी शब्द उसके हैं वे सब ''निगत्ता'' के लिए प्रयुक्त हो चुके हैं, और इसलिए अब वे शब्द झूठे हैं। ''नवगत्ता'' के लिए पहले ही उसके पास कोई अनूठे भाव नहीं है। फिर भी वह अपनी ''द्वितीया'' को मनाये तो कैसे मनाये और किन शब्दों और भावों से मनाये। वह तो ''नवगत्ता'' की अनुकम्पा से ही अपने प्राप्य के पाने की इच्छा रखता है और प्राप्य को पाकर ही कृतज्ञ हो लेता है। वह ''विगत्ता'' के प्रति अब भी सच्चा है। तभी वह ''द्वितीया'' से मीठी बातें करते समय अपने हृदय में चोट का तीखा आघात महसूस करता है। जैसे वह सोच रहा हो कि ''विगत्ता'' के स्थान पर ''द्वितीया'' को लेकर उसने एक हृदय-वेधी अपराध किया है। कहीं कुछ अन्याय हो गया है तो प्रेम को कड़ुवा कर रहा है। वह इतना सचेत कामुक है कि वह यह भी खुलकर कह डालता है कि उसका ''मन-फूल'' दूसरी वेदी पर चढ़ चुका हुआ है। वह अपनी द्वितीया को यह अधिकार देता है कि द्वितीया उसे कोसे। वह अपराधी है। ''मंदिर की माँग'' के बहाने कि क्षण भर भी वेदी सूनी न रहने पावे वह अपनी ''द्वितीया'' से अनुभाव करता है कि ''द्वितीया'' उसकी ''प्रतिमा'' बन जाये। सीधे न कहकर कि ''द्वितीया'' उसकी पत्नी बने, कवि ने चतुराई से कहा है कि ''द्वितीया'' मंदिर की देवी बने। पत्नी तो मानवी होती है। देवी फिर भी देवी है। यह प्रतिष्ठित

पद साधारणतया सबको सुलभ नहीं होता। ''द्वितीया'' को यह गौरव पद मिला। वह महान् हो गयी, फर भी वह अपाहिज के हृदय के थामने के लिए सहारे की लकड़ी का ही काम करती है। धीरे-धीरे उसपर धैर्य जमता है। वह ''विगत्ता'' के ''योग'' से बचा हुआ प्रसाद ही पाती है। कवि जानता है कि व्यंग तो यह है कि 'गत्ता' का परित्याग और ''द्वितीया'' का ग्रहण दोनों ही नैतिक स्तर पर न्यायोचित नहीं कहे जा सकते। तभी तो कवि ने इस अनैतिकता पर ''मिलन विग्रहों की छाया'' डाल दी है। अपनी मानवीय दुर्बलता को और स्वेच्छाचारिता को उसने विधि की विडम्बना और विधना की माया कह डाला है। वह ''द्वितीया'' से प्यार करने को ''विगत्ता'' से प्यार करना समझता है। पाप की मूल भावना से निःसृत हुई ईसाई धर्म के प्रायश्चित की अनूठी वासना की यह कविता देन है।

❑

राजकमल की काव्य-कृति 'मुक्ति-प्रसंग'

''मुक्ति-प्रसंग'' एक ऐसे कवि-आदमी की काव्य-कृति है, जो अपनी इस रचना से खुलकर, निर्बाध गति से व्यक्त हुआ है। प्रस्तुत पुस्तक उसके व्यक्तित्व का उतना ही अनूठा संस्करण है, जितना वह उसके काव्यत्व का अनूठा संस्करण है। व्यक्तित्व और काव्यत्व दोनों एक-दूसरे के परम पूरक होकर मुक्ति के प्रसंग को पूरा कर सके हैं।

राजकमल का जीवन—जिसे उसने लिया, बिना किसी हिचक के—सम्भोग के छोर से लेकर छत से झूलती रस्सी के फन्दे तक और फिर सर्जिकल अस्पताल तक व्यतीत हुआ है।

संस्कारी नहीं, राजकमल का सम्भोग असंस्कारी रहा है। उसके सम्भोग की दिशा मर्यादित नहीं, अमर्यादित सम्भोग की दिशा रही है। अमर्यादित सम्भोग में राजकमल को अहं से मुक्ति मिलती रही है।

अन्त में राजकमल मृत्यु को भोगकर अहं से मुक्ति पाकर ही रहे।

राजमकल ने यह कविता अपने मरने से पूर्व फरवरी-जुलाई 1966 ई० में पटना अस्पताल, राजेन्द्र सर्जिकल ब्लाक, के ई-वार्ड में लिखी थी। इसका प्रकाशन 15 अगस्त, 1966 ई० में हुआ।

यह लम्बी कविता, इस स्वर और स्वभाव की, हिन्दी की पहली ऐसी कविता है।

आदि से अन्त तक इस कविता के स्वर में आक्रोश-ही-आक्रोश है और यह आक्रोश उस सीमा तक चला गया है, जहाँ से वह केवल प्रलय होकर वर्तमान को ध्वस्त करता प्रतीत होता है, और ध्वस्त इसलिए करता है कि कवि के मन में मारकण्डेय मुनि का अस्तित्व है, जो सदैव जीवित रहे हैं। मारकन्डेय मुनि की यह कल्पना ही इस कविता को एक ऐसे धरातल पर लाकर स्थापित करती है, जिस धरातल पर मृत्यु के बाद भी कवि को पुनर्जन्म पाने की आस्था उत्पन्न होती है। यदि वह आस्था भी इस कविता से निष्कासित कर दी गयी होती, तो इस कविता का कोई भी मानवीय मूल्य शेष न रहता। इस आस्था के होने पर भी इस कविता का मूल-स्वर तीव्र और विवादी स्वर है, जो अपने पूरे आघात के साथ शत-प्रतिशत अन्धकारमय है और यह अन्धकार एक ऐसा अन्धकार है, जिसमें मनुष्य की सत्ता—उसका इतिहास, उसकी सभ्यता और संस्कृति, उसका निर्माण, उसका क्रिया-कलाप और उसकी अबतक की प्राप्त की हुई सब सिद्धियाँ और सफलतायें, सब-की-सब बेकार हो जाती हैं और उनका महत्त्व शून्य में परिणत हो जाता है।

मैं मानता हूँ कि आज के जी रहे लोग एक मरा हुआ, संत्रस्त, पराजित, एवं विघटित जीवन जी रहे हैं और यह जीवन कुछ वैसा ही जीवन है, जिसे राजकमल जीवन जीना नहीं समझते थे। यह जीवन व्यक्ति का जीवन है और यही जीवन समाज का जीवन है और यही जीवन प्रत्येक राष्ट्र का जीवन है और यही जीवन स्थान-स्थान पर अनेकानेक विघटित रूपों में प्रकट हुआ है। इसलिए राजकमल व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और अन्तरराष्ट्र के मिटा दिये जाने की अपनी बलवती लालसा उद्घोषित करते दिखायी देते हैं। वह स्वयं इस विध्वंस की बाँसुरी बजाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वह इस सब अवांछित और असुन्दर के मूल कारण में न जाकर इस सब को अपने इन्द्रिय-बोध मात्र से तांत्रिक की तरह ग्रहण करते हुए दहल जाते हैं और इस सब के विरुद्ध वैचारिक कुठाराघात करते हैं, यह कुठाराघात चाहे जितना ईमानदार रहा हो, निश्चय ही एक विक्षिप्त हुए व्यक्ति का किया गया कुठाराघात है। यह कुठाराघात प्रलय से प्रेरित हुआ कुठाराघात ही है। इस कुठाराघात के पीछे समस्त मानवीय मनोबल की और समस्त मानवीय विचारों की प्रेरणा नहीं रही। राजकमल ने इस कुठाराघात को अपने अनेक स्मरणीय अनुबन्धों से जोड़कर निस्सन्देह संवेदनशील एवं मार्मिक बनाया है, किन्तु वह ग्रहणीय होकर भी त्याज्य बना रहता है। केवल वर्तमान को ही स्वीकार करके और उसकी दसमुखी सन्त्रस्तता को जीकर ही कोई भी व्यक्ति ऐसे वर्तमान को और उसकी सन्त्रस्ता को तबतक विनष्ट करने का अधिकारी नहीं हो सकता, जबतक वह व्यक्ति वास्तविक यथार्थ को उसके सही परिप्रेक्ष्य में देखने का कष्ट नहीं करता। मैं समझता हूँ, राजकमल की इस कविता की सबसे बड़ी कमजोरी यही है कि यह कविता राजकमल के अन्दर के जी रहे आदमी की कविता नहीं है। ऐसा लगता है कि राजकमल के अन्तःस्थल में कोई अघोरी बैठा है, जो अपनी शसक्त मन्त्र की वाणी में अपने को व्यक्त करता है। इस अन्दर जी रहे अघोरी की मूल आस्था जिजीविषा के प्रति आग्रही अवश्य है, परन्तु यह आदमी भी जिजीविषा के स्वस्थ स्वरूप से सर्वथा अनभिज्ञ है। यह जी रहा आदमी—यह जी रहा तान्त्रिक—जी रहे राजकमल के अंतरिक्त कोई दूसरा आदमी या तांत्रिक नहीं है। राजकमल ने अपने वर्तमान के दो रूप देखे और दिखाये हैं। उनके देखे और दिखाये गये दोनों रूप उनके उस व्यक्ति को ही उद्घाटित करते हैं, जो अपने एक रूप में जीना तो चाहता है, मगर दूसरे रूप में सबका सबकुछ विध्वंस देखना चाहता है। यह दोनों रूप अत्यन्त संकुचित और सीमित हैं। इन दोनों रूपों को न मनुष्य का मनुष्य रूप मिला है, न मनुष्य की मानवीय आयु मिली है। यह दोनों रूप वर्तमान के सम्पूर्ण विघटन से ही प्रेरित होकर विस्फोटित हुए हैं। राजकमल को इस विध्वंस के बाद की परिणति का कोई भी ज्ञान नहीं हो पाया और इसीलिए राजकमल मारकण्डेय मुनि की कल्पना करके ही अपने को सन्तुष्ट कर सके और यह उद्घोष कर सके कि वह आदि शिशु को बटवृक्ष के नीले पत्ते से उठाकर पृथ्वी पर लायेंगे।

मैं इस उद्घोष को केवल बीमार व्यक्ति का उद्घोष ही कहूँगा।

वास्तव में विध्वंस के बाद भी मनुष्य मुक्ति नहीं पाता। विध्वंस के पीछे और आगे अतीत और भविष्य होता है। अतीत और इतिहास अवांच्छित के विध्वंस की प्रेरणा देते हैं, भविष्य विध्वंस के बाद नये के निर्माण का सन्देश देता है। राजकमल के पास न इतिहास है और न भविष्य है, इसलिए राजकमल न वर्तमान की समस्याओं से संघर्ष कर सके, न भविष्य का स्वरूप देख सके।

विध्वंस अपने-आप में कोई महत्त्व नहीं रखता। उसकी महत्ता इसमें है कि वह जीर्ण-शीर्ण को ध्वस्त करे और वह मनुष्य को अवसर दे कि मनुष्य जीवन जीने में अपने परिवेश, अपने समाज और राष्ट्र में सक्रिय रूप से संघर्ष करे और इसप्रकार जिये कि उसका भविष्य उसके मन के मुताबिक स्वस्थ्य, सुन्दर और शिव हो। समस्याएँ विध्वंस से समाप्त नहीं होतीं, आये दिन नयी-नयी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, आये दिन मनुष्य नयी-नयी समस्याओं का सामना करता है और आये दिन समस्याओं से जूझता है और समस्याओं को सुलझाता है, मनुष्य की यही नियति है। इस नियति से बाहर चले जाने की मनुष्य की शक्ति नहीं है, इसलिए मनुष्य को परिवेश को संघर्ष के द्वारा बदलना बदा है। परिवेश का बदलना विध्वंस से भी होता है, लेकिन विध्वंस का सहारा वही व्यक्ति लेता है, जो परिवेश पर काबू पाने में असमर्थ होता है, इसलिए कोई भी व्यक्ति विध्वंस करके न स्वयं ही जी सकता है और न किसी दूसरे को जीने दे सकता है। मुक्ति पाने का प्रयास संघर्ष का प्रयास है, और संघर्ष का प्रयास समस्याओं पर विजय पाने का प्रयास है, और समस्याओं पर विजय पाने का प्रयास मनुष्य का अपने अधिकार पाने का प्रयास है। और मनुष्य का अपने अधिकार पाने का प्रयास दूसरों के अधिकार को सुरक्षित रखने का प्रयास है और दूसरे के अधिकार को सुरक्षित रखने का प्रयास ही एक समुन्नत समाज में भाईचारे के साथ जीने का प्रयास है और यही प्रयास वास्तव में मुक्ति-प्रसंग है और इस मुक्ति-प्रसंग के अतिरिक्त कोई दूसरा मुक्ति-प्रसंग नहीं है। राजकमल ने इस प्रयास की भरपूर अवहेलना की है। जिस प्रसंग को राजकमल ने मुक्ति के प्रसंग की संज्ञा दी है, वह प्रसंग वास्तव में मनुष्य की मुक्ति का प्रसंग नहीं है। वैसा प्रसंग निरर्थक प्रसंग है और वैसी मुक्ति शून्य की मुक्ति है। यह कविता कदापि मनुष्य की मुक्ति के प्रसंग की कविता नहीं है। राजकमल ने मुक्ति नाम की सार्थकता उधार ली है और इस उधार ली हुई सार्थकता से मनुष्य को उसके संत्रास से उबार सकने की सामर्थ्य दिखलाया है। निस्सन्देह राजकमल का यह प्रयास अपने आप में एक अनूठा प्रयास है और यह अनूठा प्रयास हिन्दी को उपलब्ध होकर भी निस्सार प्रयास मात्र है। यह कविता अपने ढंग की अनूठी कविता होकर भी एक असफल कविता है।

यह कविता इसी अर्थ में नयी कविता है कि यह नये के संस्कार लेकर भी नये मनुष्य की नयी कविता नहीं है। इस कविता में छंद भी टूटे हैं और पंक्तियाँ भी छोटी-बड़ी हुई हैं और इसकी बिम्ब-योजना आक्रोश की बिम्ब-योजना होकर भी जीवन जीनेवाले आदमी के आक्रोश की बिम्ब योजना नहीं है। सबकुछ कहकर भी, लिखकर

भी राजकमल इस कविता में मानवीय उद्धार की बात नहीं कह सके—न लिख सके। इस कविता में आमूल परिवर्तन किये जाने की उत्कट हार्दिक अभिलाषा है और विश्व की घटनाओं के संक्रमण का वात्याचक्र है और विभाजित एवं खण्डित मनुष्य की बहुमुखी विघटित सम्वेदनायें हैं। फिर भी, इस सबके वावजूद भी, यह पूरी कविता आदमी की कविता नहीं है। इस कविता में राजकमल के मानसिक विकार का ग्राफ अवश्य मिलता है। लेकिन इसमें मनुष्य के संघर्ष का लवलेश भी चित्रण नहीं मिलता है। यह हमारा और हिन्दी का, दोनों का, दुर्भाग्य है कि ऐसा जागरूक और सचेत कवि भी अपनी संस्कृत वाणी से सामाजिक सत्य को न अपने इन्द्रियबोध से ग्रहण कर सका और न अपने बौद्धिक बोध से ही ग्रहण कर सका। राजकमल ने अपनी मुक्ति के प्रसंग में और मनुष्य की मुक्ति के प्रसंग में एक मानवी सत्य को ग्रहण किया है और इस मानवी शक्ति के द्वारा ही अपनी और मनुष्य की मुक्ति का स्वप्न साकार किया है। यह कविता इस स्वप्न की प्रतिलिपि होकर शून्य की प्रतिलिपि हो गयी है। इस शून्य में न शौर्य है, न साहस है, न विवेक है, न बुद्धि है और न कर्म है।

प्रश्न उठता है कि आखिर राजकमल मरकर फिर भी जन्म लेकर संसार में आने के लिए लायायित क्यों हुए? राजकमल की इस कविता में इस प्रश्न का उत्तर केवल विध्वंस और विस्फोट से दिया गया है। विध्वंस और विस्फोट के बाद के संसार का कोई भी चित्र नहीं प्रस्तुत है।

मैं मानता हूँ कि यह कविता केवल कविता है और जीवन जीने की कोई थीसिस नहीं है, फिर भी प्रत्येक कविता के साथ जीवन जीने की लालसा भी जुड़ी होती है और वह लालसा जीवन को जिलाये रहकर स्वयं जीती है और जीवन को अनेक प्रकार से प्रेरित करती रहती है कि जीवन का विध्वंस और विघटन एक-न-एक दिन असम्भव हो जाय। इसलिए यह कविता कविता होने के बल पर कविता होकर नहीं जी सकती। यह तो मनुष्य के पतन की कविता है।

यह कुछ भी समझ में नहीं आती कि तेरह हजार वर्ष पहले मेरुदण्ड पर्वत की काली चट्टान के पत्थरों से तराशी गयी एक तेरह वर्ष की लड़की उग्रतारा भला करोड़ों मनुष्यों का कैसे उद्धार कर सकेगी। राजकमल ने ऐसी लड़की के द्वारा मनुष्य जाति के उद्धार की कल्पना की है। ऐसी कल्पना और प्रवृत्ति के पीछे निस्सन्देह मनुष्य की उस आदिम अज्ञानता का ही बोध होता है, जो मनुष्य को कन्दराओं में पशु-पक्षियों और कल्पित देवताओं की आकृतियाँ रेखांकित करके जीवन व्यतीत करने के लिए और तब के परिवेश पर काबू पाने के लिए विवश करता था। तब विज्ञान से वंचित मनुष्य वैसा करने के लिए बाध्य था, किन्तु आज वैसा करने के लिए मनुष्य बाध्य नहीं है। तब मनुष्य ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों से अनजान था। तब मनुष्य के लिए उग्रतारा की कल्पना करना और उस कल्पना के बलपर मनुष्य का अपना जीवन सँवारना क्षम्य था, परन्तु अब आज युगों बीत जाने के बाद किसी उग्र तारा की कल्पना करना और

मारकण्डेय मुनि होकर मनुष्य के पुनरुद्धार कर सकने की इच्छा प्रगट करना विफल कल्पना और विफल इच्छा करना ही कहा जायेगा।

कविता मनुष्य की कृति है—मनुष्य के मन की सृष्टि है—मनुष्य के लिए है। मुक्ति-प्रसंग कदापि ऐसी कविता नहीं।

श्री अज्ञेय को समर्पित होकर भी यह कविता मनुष्य को समर्पित नहीं हो सकती।

जिस ईमानदारी से मैंने इस कविता को परखा है, उस ईमानदारी में कटुता का कोई भाव नहीं है। मैंने तटस्थ भाव और विचार से इस कविता के समझने का प्रयास किया है और जो कुछ मैंने समझा है, उसे मैंने यहाँ पर शुद्ध मन से हिन्दी के हित में काव्य-प्रेमियों के समक्ष प्रस्तुत किया है।

❑

लुकमान अली

अक्टूबर-नवम्बर, सन् 1968, के ''कृति परिचय'' के ''युवालेखन विशेषांक : 1'' में छपकर सामने आया ''लुकमान अली'' सौमित्र मोहन के दु:स्वप्न का पुत्र है। नाम मुसलमानी है। एक साथ लाल, नीले, पीले और काले पाजामे पहनता है। लोगों की जेबों में रहता है। वहाँ से बाहर निकाला जा सकता है। इसका नाम लेकर रूस, चीन, अमरीका या किसी भी देश से भीख माँगी जा सकती है और वह भी आँख मूँदकर (यानी बिना प्रयास के) और भारतवासी कहलाया जा सकता है।

वैसे तो ''लुकमान अली'' मात्र प्रतीक मालूम होता है, जो खोजने पर भी—कहीं भी—समूचे भारत में आदमी के एक शरीर के रूप में नहीं मिलता। लेकिन—करोड़ों आदमियों का भारत-विसंगतियों के परिवेश का आज का भारत—अनचाही यंत्रणाओं का भारत—दु:स्वप्न की मनोदशा में पहुँच चुका भारत है और इसी भारत का प्रतिनिधि ''लुकमान अली'' है। अपनी ''फन्तासी की सत्ता'' में व्यक्ति-विशेष होकर भी यह व्यक्ति-विशेष नहीं है—साधारण है—अति साधारण है—जिसे देखकर-समझकर पूरे भारत को देखा और समझा जा सकता है।

दु:स्वप्न की मनोदशा में पहुँचे अब के भारत को हाड़-मांस के किसी एक जाने-माने व्यक्ति के चरित्र-चित्रण के द्वारा आंशिक रूप में भी व्यक्त नहीं किया जा सकता था। अनेकों व्यक्तियों का एक जगह चित्रण भी असम्भव था। व्यक्ति या समूह एक रचना में एकसाथ पकड़ में न आ सकते थे। सौमित्र मोहन ने ''लुकमान अली'' को ''फन्तासी की सत्ता'' देकर असम्भव को सम्भव किया है और एक के माध्यम से अनेक के भारत को एक स्थान पर यथासाध्य शाब्दिक जामा दिया है, जो व्यक्त हो रही विसंगतियों—अनिच्छित यंत्रणाओं को—तीखे और पैने तरीके से उभारता और दरसाता है।

''फन्तासी'' की यह कविता हिन्दी की पहली बेजोड़ दु:स्वप्न की सार्थक कविता है। इसलिए भी इस कविता का विशेष महत्त्व है।

दस खण्डों में छपी यह एक लम्बी कविता है। युगीन और आधुनिक कथ्य को—जन-मानस में व्याप्त विसंगति को—जो अबतक की लिखी छोटी-बड़ी कविताएँ न कह सकीं, उसको इसने कहा और भरपूर कहा और ऐसा कहा कि भरपूर impact पड़ा। इसका कथ्य उतनी ही युगीन और आधुनिक है, जितना इसका शिल्प न कथ्य में रोमान

है—न सौन्दर्यात्मक प्रवृत्ति है—न शाब्दिक अलंकरण है—न दार्शनिक आरोपित चिंतन है—न पलायन-प्रेरणा है—न भ्रम और भ्रांति है। न शिल्प में पारम्परित वाक्यांश हैं—न स्वीकृत काव्यांगी उपमाएँ हैं—न रूपकों का आइना है, न भाषा की गढ़न है—न छंदों की छलन और छुअन है—न कथ्य को शोभित करने की लालसा है—न कुरूप को विकृत करने की उत्कंठा है—न यथार्थ का दमन है—न आदर्श की चाल-चलन है। जैसी नंगी विसंगति है और जैसा नंगा उसका कथ्य है, वैसा नंगा उसका शिल्प है। गद्य और पद्य इसी कविता में कविता हुए हैं और दोनों यहीं अपना-अपना अस्तित्व एक कर सके हैं और एक होकर भारतीय जन-मानस की विसंगति की मनोदशा को अभिव्यक्ति दे सके हैं।

मुक्तिबोध और राजकमल की मृत्यु के समय तक हिन्दी-कविता जहाँ तक पहुँची और ले जायी गयी थी, वहाँ से आगे पहुँची और ले जायी गयी। यह कविता—''लुकमान अली''— है। इसकी पहुँच का यह स्थान हिन्दी-कविता की वर्तमान उपलब्धि का विशेष महत्त्व का स्थान है। इस स्थान पर परम्परा और प्रगति का अविच्छन्न सम्बन्ध टूटा है—काव्य की समस्त स्वीकृत मान्यताएँ तिरोहित हुई हैं—मानसिक गुहाओं की रोमांचक यात्राएँ समाप्त हुई हैं—स्वर से संगीत विलग हुआ है—यथार्थ को विसंगति के साथ अभिव्यक्ति मिली है—श्लील की मृत्यु हुई है और अश्लील को साहित्यिक स्वीकार्य मिली है—और गद्य को भी कविता कहलाने का गौरव मिला है। यह वास्तव में युगबोध की आधुनिक साहसिक कविता है। यह विश्वविद्यालयी स्वर से अछूती है। यह सड़क के स्वर की, हरेक नगर के ऊबे-डूबे परिवेश की, करोड़ों-करोड़ों साधारण जनों की सही अर्थों में कविता है। तभी तो यह राजनीति को पास नहीं फटकने देती। प्रतिबद्धता इसका स्वभाव नहीं है। नेताओं को यह नियामक नहीं मानती। उनपर चोट करती है। आदमियों को—नकली बने आदमियों को—निरावरण करती है। अपना सबकुछ न पाकर विपन्न जीनेवालों की आज की यह कविता उतनी ही वैयक्तिक है, जितनी सामूहिक है। इसमें न व्यक्ति की अवज्ञा है—न भीड़ की। व्यक्ति और भीड़ इसी कविता में विसंगति के स्थल पर पहुँचकर अपना-अपना निजी महत्त्व खो सके हैं और दोनों एक-दूसरे के पूरक बन गये हैं। सभ्यता और संस्कृति की परतें यहीं उखड़ी हैं और उनके उखड़ने पर दु:स्वप्न पैदा हुआ है और वही दु:स्वप्न आज के भारत का दु:स्वप्न है, जिसे भारतीय जी रहे हैं असहाय, असमर्थ और चिंतनीय।

❑

केदारनाथ अग्रवाल
का रचना संसार